स्पन्दन

(बारह मौलिक कहानियाँ)

लेखक

श्री ओंकार शरद

सम्पादक

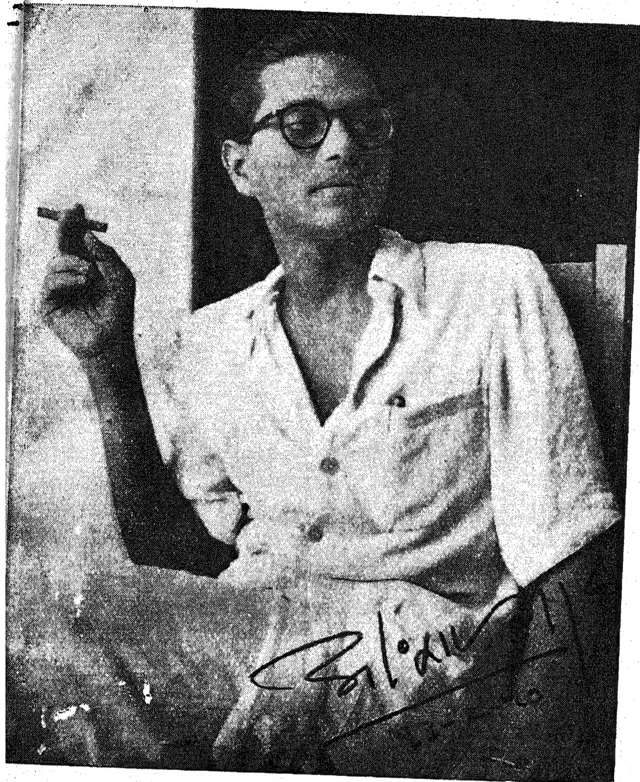
विश्वनाथप्रसाद मिश्र

(प्राध्यापक काशी विश्वविद्यालय)

भाषा भवन, काशी

प्रकाशक : 'भाषा-भवन', नन्दनसाहु, बनारस।
मुद्रक : अच्युत मुद्रणालय, ललिताघाट, बनारस।
प्रथम संस्करण : २००० प्रतियाँ : सं० २००७
मूल्य : २।)





शरद

ये कहानियाँ

इस संग्रह में मेरी सन् १९४६ से अब तक की लिखी सभी चुनी हुई कहानियाँ संगृहीत हैं। मेरे पाठकों ने जिस उत्साह से मेरे पहले संग्रहों का स्वागत किया था, उसीके बल-पर यह संग्रह भी भेंट करने का मुझे साहस हुआ है।

इन कहानियों के विषय में मैं स्वयं कुछ नहीं कहना चाहता, क्योंकि मेरे कुछ कहने के माने हैं कि मैं अपनी राय पाठकों पर लादूँ। फिर पाठक अपनी स्वतन्त्र राय कैसे बना सकेंगे? अतः कहानियों की अच्छाई-बुराई पाठकों के ही सिर पर! कहानियाँ लिखना था सो मैंने लिख दिया।

हाँ, 'स्पन्दन' केवल किताब का नाम है। इस नाम की इस संग्रह में कोई कहानी नहीं। इन सभी कहानियों में मैं अपने हृदय के स्पन्दनों की आवाज सुनता हूँ, इसलिए यह नाम रख दिया है।

—लेखक

प्रिय

श्रीरामकृष्ण जौहरी

को

क
हा
नि
याँ

—:❋:—

रा

नी

०

१

प्रतिदिन ही तो. शाम को आठ बजे कि पाँच सात मिनट के भीतर ही वह परिचित पीले रंग की बग्घी आकर इस मकान के सामने रुकती है। वे वृद्ध सज्जन उस पर से उतरते हैं—गम्भीर मुद्रा बनाए हुए, मानो जीवन का सारा का सारा बोझ अब तक उनके मस्तिष्क पर धरा है। कुरता और पायजामा पहने वे भले से तो मालूम होते हैं; पर उनके सिर के बाल कुछ तितर-बितर से रहते हैं। दाढ़ी शायद प्रतिदिन ही बनाते हैं। पर जब कभी खूँटियाँ बढ़ आती हैं तो काफी बुरी मालूम होने लगती हैं।

दोनों हाथ झुलाते हुए वे तीनों सीढ़ियाँ बड़ी जल्दी में पार कर के ऊपर पहुँच जाते हैं। चबूतरे पर क्षण भर खड़े हो मानो कुछ याद कर फिर दरवाजे को थपथपाने लगते हैं। दो हो एक मिनट के बाद एक युवती, गोरी सी, सुन्दरता के नाम

पर अति सुन्दर सी, आकर किवाड़े खोलती है। ये सज्जन उसके कन्धों का सहारा ले भीतर जाते हैं, मानो जवानी की याद आ जाने पर उन्हें बुढ़ापा कोसने लगता है और सहारे की आवश्यकता पड़ जाती है।

इन बूढ़े सज्जन का नाम बाबू सदाशिव है। बड़े बाप के बेटे हैं। मरते समय बाप ने लाखों की सम्पत्ति छोड़ी है। इसीलिए तो उसी पर सदाशिव ने अपनी जिन्दगी ही काट दी। अभी तक किसी व्यवसाय या किसी प्रकार का धन संचित करने के साधन की इन्हें आवश्यकता नहीं पड़ी। पहले के ये बहुत बड़े रईस हैं। पर अब तो रईसी के नाम पर केवल एक बूढ़ा नौकर और वही पीले रंगवाली बग्घी है। मकान, जिसमें रहते हैं, पुरखों के समय का है, पर प्रतिवर्ष की मरम्मत के कारण अब उसका रूप बदल गया है।

बाप की मृत्यु के समय इनकी उम्र केवल तेईस साल की थी। जब तक बाप थे तब तक तो कुछ रोबदाब उनका था ही, पर जब वे मर गए तब सदाशिव स्वयं मालिक बने। मानव अपनी गलतियों और कमजोरियों को स्वयं नहीं देख और सुधार पाता। फलस्वरूप सदाशिव में वे सभी गुण आ गए जो किसी भी बिगड़े नवाब में पाए जाते हैं। दिन भर तो डट कर सोते, तीन बजे के करीब उठते। फिर यारों का ताँता शुरू होता। शाम तक एक से एक अच्छे यार आते। एक से एक अच्छी बातें करते, जैसे कोई कहता—"सरकार! आज तो एक परदेसी 'माल' आया है। शहर में तो उसके टक्कर का ढूँढ़ भी न मिलेगा। मैं तो कहता हूँ कि एक बार आप देख लेंगे तो फिर········।"

"अरे इतना मत सुनाओ भाई! पूछने कहने की क्या बात

है, आज का प्रोग्राम वहीं रहा।"

"पर सरकार कुछ...........।"

"हाँ, हाँ रुपयों के लिए तो मैं हूँ ही।"

"बस सरकार इतना ही सहारा दिए रहें तो फिर क्या! दरवाजे पर मीना बाजार न लगा दूँ तो मेरा नाम नहीं।"

फिर लगभग छः बजे मंडली उठती, ये सरकार भी उठते। अपने शृंगार-सजाव से आठ बजे तक छुट्टी पा जाते। तब वही चढ़ियाँ फिटन तैयार की जाती। सरकार अपने कुछ पिट्ठुओं के साथ सवार होकर निकलते—उसी पूर्व-निश्चित प्रोग्राम के अनुसार।

फिर आधी रात बीते, एक बजे के लगभग सरकार को जब कुछ सुस्ती और रात के समय का ज्ञान होता तो यारों से कहते—"भाई, अब कल पर रखो।" और लचकदार सुदर्शन छड़ी का सहारा लेकर वे चलते। चलने में उनके पाँव डगमगाते। मानो इन सरकार के शरीर के साथ किये गए ऐश व आराम रूपी शिष्टाचार का वे दो पाँव विरोध कर रहे हों। किसी का सहारा ले वे सीढ़ी उतरते। नीचे बग्घी खड़ी ही रहती। एक टाँग पावदान पर और एक नीचे रखकर वे पुनः एक वार सिर ऊपर की ओर उठाकर क्षण भर को ताकते और एक तीखी सी वीभत्स मुसकान चेहरे भर पर थिरक उठती। और ऊपर से भी कोई अपनी तिरछी नजरों को नचाकर एक ठंढी साँस के साथ भीतर चली जाती।

सरकार उसी अर्द्ध-निद्रित अवस्था में घर आते। थोड़ा वहुत खाते और फिर जो पलंग से लिपटते तो वही आठ या नौ बजे, घड़ी के बोलने पर, आँखें मलते। अँगड़ाई लेते। पिछले दिन और रात की खुमारी को खाट पर ही छोड़कर

उठते। और फिर दूसरे ही क्षण से तो दोस्तों का ताँता लग जाता—किसी नए प्रोग्राम के फेर में।

इसी बीच में सदाशिव बाबू के चाचा आए। सदाशिव को देखा। आँखों में कुछ किरकिरी सी लगी। दिल में कुछ खटका हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि भाई के नाम को, जिसे उन्ह ने अपने जीवन के पचास साल में कमाया था, यों ही न नष्ट होने देंगे

भतीजे को बुलाकर शान्ति से कहा—"सदाशिव! अब तुम्हें मेरी माननी ही होगी।"

"हाँ चाचा जी, आपकी आज्ञा मैंने टाली ही कब है?" चाचा के आगे उनकी चलती न थी।

"तो शादी तुम्हें करनी ही होगी।"

शादी! शादी! सदाशिव को लगा, मानो किसी ने भिखारी की एकमात्र निधि, उसकी फटी लँगोटी, भी छीन ली।

"कुछ उत्तर दो, शादी तुम्हें करनी होगी।" चाचा का स्वर तीव्र था।

शादी करनी ही होगी! सदाशिव का सिर भन्ना रहा था।

"मुझे कोई इनकार नहीं चाचा जी!" किसी ने सदाशिव के कलेजे पर मानो भारी पत्थर रख कर कहने को बाध्य किया।

मित्र-मंडली में यह बात हुई तो वज्र गिरा। सब के कान खड़े हो गए। आँखें फाड़ फाड़ उन्होंने कहा—"यह तो असम्भव सम्भव हो रहा है।"

फिर सदाशिव की शादी हुई। पत्नी आई-परी सी। सदाशिव ने समझा—जीवन की जिस कमी को पूरी करने के लिए वह आज वर्षों से रात के अँधेरे में दर दर मारा फिरता था वह चिराग उसे घर में ही मिल गया।

मित्रों ने अपना जाल समेटा न था। किसी किसी दिन मछली फँस ही जाती थी। और उन्हें सन्तोष करना हो पड़ता था।

परिस्थिति अब बेचारे सदाशिव के लिए बदल गई। चलते चलते पत्नी टोकती—"देखो, नौ से देर न होने पाए।"

मजबूर होकर सदाशिव को नौ से पहले ही आना पड़ता, सारा मजा छोड़ कर। अन्यथा अगर साढ़े नौ भी वज जाते तो रात भर तड़पना पड़ता। पत्नी एक वाक्य भी बोलने को तैयार न होती। रात भर असहयोग रहता।

पूरे दो साल बाद।

आज सदाशिव के यहाँ बड़ी चहल-पहल थी। उनकी लड़की की प्रथम वर्षगाँठ थी। कल से दूसरा साल शुरू होगा। सदाशिव खुश थे। सभी खुश थे।

उस रात उन्होंने सपने में देखा, एक अद्भुत नारी—सुन्दरता की सम्राज्ञी—उनके पास आई। सदाशिव को आश्चर्य था।

वह कड़क कर वोली—"सदाशिव! तुम अब वालवच्चेदार हो। तुम्हारे एक लड़की है, तुम उसके बाप हो। उसके जीवन का भार तुम पर है। बुरी आदतों को अब तो छोड़ो और गृहस्थी की ओर देखो। तुम्हारे कारण घरवालों को तकलीफ न हो। तुम्हारे धन पर उनका हक है।"

यह कह कर वह अद्भुत नारी चली गई।

सदाशिव हड़बड़ा कर उठा। देखा, खाट पर उसकी पत्नी थी। उसने पूछा—"क्या हुआ? डर गए क्या?"

"नहीं तो!"

"अच्छा, सो जाओ।"

और सदाशिव ने आँखें बन्द कर लीं। पर रात भर वह सोया नहीं।

दूसरे दिन से सदाशिव का जीवन बिलकुल बदल गया। अपनी पत्नी की इच्छा के अनुसार वह चलता। अपनी बच्ची को प्राणों सा प्यार करता। उसकी बच्ची माँ से भी अधिक सुन्दर थी। सदाशिव ने उसका नाम रानी रखा।

चौदह साल बीते। रानी अब जीवन की पन्द्रहवीं सीढ़ी पर चढ़ने जा रही थी।

अब वह फर्स्ट इयर में थी। रंग उसका निखर चुका था, तपे सोने सा। काटछाँट थी बिलकुल माँ की सी। सदाशिव एक बार देखते तो आनन्द-विभोर हो जाते। वही एकमात्र उनकी सन्तान थी।

एक दिन पत्नी से कहा—"रानी अब बड़ी हुई। शादी की फिक्र करनी होगी।"

"अभी तो बेचारी नन्ही सी ही है। अभी से तुम पर उसकी शादी की चिन्ता सवार हो गई। शादी! शादी! खबरदार जो पाँच साल शादी का नाम लिया। अच्छा न होगा।"

जीवन के आज कल के ये दिन सदाशिव को बड़े अच्छे लग रहे थे। अब उन्हें रस मिलना शुरू हुआ था। वीणा से अभी संगीत का स्वर फूटा ही था कि बीच में ही तार टूट गया। सदाशिव पत्नी को खो बैठे।

पत्नी की मृत्यु के शोक से सदाशिव का कलेजा चलनी हो गया। अभी उनकी उम्र इतनी ज्यादा नहीं हुई थी कि संसार के राग-रंग से वैराग्य हो जाय। और फिर सदाशिव को अपनी पत्नी बड़ी प्यारी भी थी। जब वह सदाशिव के

पचासवीं वर्षगाँठ मनाने के पहले ही चली गई तो सदाशिव का विचलित होना आवश्यक था। अब उनके जीवन में थी केवल उदासी, चिन्ता और दुःख।

पर रानी को देख कर सदाशिव के दिल को कुछ शान्ति मिलती। वे सोचते रानी को सदा सुख मिले, उसे अपनी माँ का अभाव न खटके। सदाशिव को सदा इसी का ध्यान रहता।

दिन दिन कर के समय बीतता गया। रानी की माँ को मरे एक वर्ष से ऊपर हो गया। सदाशिव के जीवन में उदासी छा जाने से जो एक प्रकार की शिथिलता आ गई थी उसमें फिर कुछ स्फूर्ति, गति आने लगी। रानी दिन भर कालेज में रहती। सदाशिव को अकेला घर अब भाँय भाँय लगने लगा। अब वे कभी कभी घर से निकलते।

रानी के जीवन का पन्द्रहवाँ बसन्त भी बीत रहा था। जीवन का यही क्षण तो होता है जब एक मस्त बयार बहती है। मधुर भावनाओं की तरंगें आती हैं। मन में उमंगें उठती हैं। यौवन अल्हड़ होकर आँखों पर पट्टी बाँध लेता है। अल्हड़ता की कोई सीमा उसे दिखाई नहीं पड़ती।

अब रानी को अपनी फिक्र हुई। उसने कल्पना का एक संसार बनाया। घूमने को एक साथी बनाया। वह था बड़ा सुन्दर, स्वस्थ और शिक्षित। उसके साथ विचरने में ही उसे बड़ा आनन्द आता। पर कभी कभी जब वह उसका काल्पनिक संगी साक्षात् प्रकट हो जाता तो रानी उसे देखते ही घृणा से मुँह फेर लेती। वह था उसका पड़ोसी अमरनाथ। वह था बड़ा शैतान और धूर्त। कालेज में भी वह था बदनाम।

रानी यह सब कुछ जानती थी। अमर की शकल देख कर ही उसका चेहरा लाल हो जाता। उसे इस तरह के पुरुषों

से ही घृणा थी। वह सोचती, ये पुरुष होते कितने नीच हैं—स्त्रियों को देखा कि आँखें गड़ाने लगे। तंग करना ही इन्हें अच्छा लगता है।

देखो न इसी अमर को. बेहयायी का तो इसने जामा पहन रखा है। किसी भी बात में इसे लज्जा लगती ही नहीं। कल की ही बात है। शाम के समय रानी अपने कमरे की खिड़की खोले खड़ी थी। उसी समय वह शैतान सामने से आया। खिड़की का छड़ पकड़ कर बेधड़क बोला—"तुम्हारा नाम रानी है?"

"हाँ, है तो।" रोष से रानी लाल हो गई।

"और हाँ, तुम बड़ी सुन्दर हो।" बेधड़क उसने कहा।

झपटकर रानी ने खिड़की बन्द कर ली। उसे यह बुरा लगा। वह सुन्दर तो अवश्य है, पर उसे क्या? खिड़की बन्द करते ही उसने सुना—अमर बाहर से अट्टहास कर उठा। धीरे से रानी ने कहा—"बेहया नहीं तो।"

रानी ने मान लिया कि सभी पुरुष बड़े खराब होते हैं। अगर उसका वश चले तो वह उन्हें संसार से निकलवा दे। आकर वह अपने कमरे में खाट पर पड़ रही। उसकी साँस तेज चल रही थी। संसार उसे घूमता सा लगा। मानो अमर ने उसका कुछ छीन लिया था।

तभी झटके के साथ कमरे का दरवाजा खुला। सदाशिव ने हड़बड़ाकर भीतर प्रवेश किया और खड़े होकर एकटक देखते रहे। मानो पहचान रहे हों। रानी पिता को इस तरह घूरते देखकर डर गई।

"बाबू जी!" वह चीख पड़ी।

"हाँ बेटी!" उन्हें होश आया। वे उलटे पाँव ही लौट पड़े।

रानो ने देखा उनके पाँव बेकाबू थे। सदाशिव के पीछे पीछे वह उनके कमरे तक गई। सदाशिव खाटपर लेट रहे। रानी ने पूछा—"बाबू, तबीअत ठीक नहीं है क्या?"

"ठीक है बेटी।" बाबू ने कलेजा दबाते हुए कहा। उनके कलेजे में दर्द था।

"तब आप ऐसे क्यों हुए जा रहे हैं?" रानो ने कहा।

"सब ठीक है बेटी! जाओ, तुम खा पीकर आराम करो।"

"क्यों आप खाना न खायँगे क्या?"

"नहीं, भूख नहीं है। आज बहुत दूर तक घूमने चला गया था। इसीलिए थक गया हूँ।"

"तो थोड़ा ही खाइए, मैं खाना ला रही हूँ।"

"नहीं भाई, कह दिया तो, विश्वास करो—नहीं खाऊँगा। इच्छा ही नहीं है।"

"क्यों तबीअत तो ठीक है न?"

"हाँ, बिलकुल ठीक है। तुम फिक्र मत करो, जाओ आराम करो।"

रानी को पिता का यह व्यवहार बुरा लगा। सदाशिव का स्वास्थ्य शुरू से ही खराब रहा है। स्नेहमयी पत्नी की सेवा से वह कभी बिगड़ न सका। उसके बाद रानो की देखरेख रही। अपनी देखरेख में रानी ने कभी पिता को बीमार न पाया था। इसीलिए इस समय वह चिन्तित थी। आखिर बाबूजी को हुआ क्या?—मन ने प्रश्न किया। तभी उसने चारों ओर एक गंध का अनुभव किया। रानो को समझते देर न लगी। पिताजी ने आज शराब पी है तभी ऐसा है।

अनजाने में ही रानी की दोनो आँखों से पानी की एक एक

बूँद टपकी। वह भारी मन लेकर कमरे से बाहर हो गई। अपने बिस्तरे पर आ वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसने सोचा उसके पिता भी बुरे हैं। शराब पीते हैं।

परेशानी से उसका मस्तिष्क सदा ही चूर रहता। शाम को आज फिर वह खिड़की खोले सड़क की ओर निहार रही थी। उसी समय उधर से होकर दो युवक गुजरे। दोनों की नजर एकाएक खिड़की पर घूमी। एक ने कहा—"बड़ी अच्छी है भाई!"

"इसमें क्या शक है। चाँदी तो अमर की है। देखो न, पड़ोसी है।"

रानी आगे न सुन सकी। खिड़की बन्द कर दी। सोचा—"सड़क पर जब ये बुरे पुरुष चलते हैं तो वह फट क्यों नहीं जाती? इनका नाश क्यों नहीं हो जाता?"

दूसरे दिन कालेज से रानी लौटी तो सुना पिताजी ने अभी तक खाना नहीं खाया है। वह पिता के कमरे में गई। पिता जी बदहवास नींद में थे। उसने हाथ पकड़कर हिलाया। पर पिता जी न उठे। रानी एक कदम पीछे हट गई। आज भी उन्होंने शराब पी थी। रानी पर बिजली गिरी। गंध से परेशान हो वह कमरे से बाहर निकल आई।

उस दिन रात भर चिन्ता से रानी को नींद न आई। वह सोचती ही रही, अब पिता जी को कैसे रोका जाय। पर उसके रोकने से वे रुक भी तो नहीं सकते। और वह उनसे यह सब कहे कैसे? फिर उसे क्या इस घर में सदा बैठे रहना है! साल दो साल में जब शादी होगी वह अपने घर चली जायगी। उसे क्या पड़ी है। करें जो बाबूजी का मन हो।

दूसरे दिन उसने कहा—"बाबू जी, जरा रात को जल्दी

आइएगा। अकेले रात में हमें डर लगता है।"

"अच्छा बेटी!" पिताजीने कहा।

रानी को लगा कि उसके सिर का एक बोझ हलका हो गया। पर उसे अब पुरुष जाति से ही घृणा हो गई। उसे विश्वास था कि उसके पिता केवल इसीलिए पतन की ओर अग्रसर हुए हैं कि वे पुरुष हैं। अन्यथा वे बड़े अच्छे होते।

इस घटना के पूरे एक सप्ताह पश्चात् एक दिन रविवार को छुट्टी थी। तय हुआ था कि बाप बेटी दोनों साथ ही खाना खायँगे। पर एक बजे के लगभग पिता जी के एक बहुत पुराने मित्र आ गए। पिता जी उन्हींसे बातें कर रहे थे। धीरे धीरे बातों मे ग्यारह बज गए।

रानी भूख के मारे परेशान थी। आखिर जब न रहा गया तो पिता के कमरे की ओर गई। बाहर ही खड़ी थी। न जाने क्यों दरवाजा खोलने की उसकी हिम्मत न पड़ी। तभी उसने सुना। पिता और उनके साथी बात कर रहे थे।

"यार, हमें तो आशा ही न थी कि इस जन्म में तुम मिलोगे। हमने तो समझा था कि तुम्हारा मन भर गया।"

"यार, स्त्रियों से कभी किसी का मन भरा भी है?"

"सो भी तुम ठीक ही कहते हो।"

"तो फिर आज तय रही न!"

"हाँ हाँ—।"

तभी रानी ने दरवाजा खोला। दोनों की आँख उसकी ओर उठीं। साथी ने सदाशिव के कान के पास मुँह ले जाकर कहा—"माल तो अच्छा है!"

"क्या?" सदाशिव को आज अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ।—"अरे नीच! यह मेरी बेटी है।"

साथी ने सिर नीचा कर लिया। रानी समझ गई। शरीर उसका झल्ला उठा।

सदाशिव की ओर लक्ष कर उसने बड़ी कठोरता से कहा—"पिता जी ग्यारह बजे। खाना अभी तक ।"

"तुम्हें मेरे खाने की कौन सी परवाह रहती है पगली। जा, तू खा ले।"

आहत मृगी सी रानी लौटी। उसे पिता जी के मित्र ने वेश्या समझा था। यही बात उसके मस्तिष्क में रह रह कर बिच्छू का सा डंक मार रही थी।

रानी अपने बिस्तरे पर पड़ गई। मन में आया कि वह खूब रोए। जी भरकर रोए। पर उसे रोना न आया। उसे अपने पिता के पुरुष होने पर दुःख हो रहा था। अच्छा होता वे पशु होते। ये पुरुष! बड़े नीच होते हैं।

पर रानी को आज एक नई बात रह रह कर परेशान कर रही थी कि पुरुषों के पतन में स्त्रियों का भी हाथ रहता है। अगर स्त्रियाँ न हों तो पुरुषों को पतन का मार्ग ही न पकड़ना पड़े। सभी स्त्रियों पर किसी न किसी पुरुष के पतन का उत्तरदायित्व है।

तो बड़ी होने पर क्या हमें भी ऐसी ही होना पड़ेगा! नहीं! ऐसा नहीं हो सकता।

तभी किसी ने मन में कहा—"यह तो स्वाभाविक ही है।"

रानी को अब विश्वास हो गया कि बड़ी होकर वह भी खराब हो जायगी। दुनियाँ की और औरतों की तरह इससे वह बच ही नहीं सकती। तो फिर वह पुरुषों से घृणा क्यों करे? उसने घृणा करना छोड़ दिया।

इसके ठीक एक महीने बाद।

आज सदाशिव बड़े सवेरे ही घर से चले गए थे। रोज वे

बारह बजे के लगभग घर लौटते थे, पर आज जल्दी ही लौट आए। बैठक का दरवाजा भीतर से बन्द था। सदाशिव का दिल धक् धक् करने लगा।

उन्होंने पुकारा—"रानी!"

भीतर अमर के पास में जकड़ी रानी चौंक पड़ी। अपने को मुक्त करके आवाज सँभालते हुए उसने उत्तर दिया—"हाँ बाबू जी!"

पर आवाज उसकी काँप रही थी।

दरवाजा खुला। सदाशिव ने पूछा—

"क्या कर रही थी बेटी?"

"पढ़ रही थी।"

"और कौन है?"

"अमर बाबू हैं। उनसे पोएट्री पढ़ रही थी।"

सदाशिव ने अमर का उड़ा हुआ चेहरा देखा। दिल धक् से हो गया। लगा, मुँह पर किसी ने तमाचा मारा "अच्छा—" कह कर वे लौट पड़े।

दिल में किसी ने सलाह दी—"रानी की शादी अब कर देनी चाहिए। कारण अब रानी को पुरुषों से घृणा नहीं है।"

— —

त्यू
मा
की
सु
हा
ग
रा
त
०

जैसे बसन्त के प्रभात-समीरण के प्रवेश करते ही उपवन में कलियाँ विकसित हो उठती हैं, हरी हरी पत्रावलि हिलने लगती है, उसी प्रकार यौवन की प्रथम किरण ने ही त्यूमा में असीम सौन्दर्य भर दिया। उसका सुगठित शरीर, मदभरी आँखें, मधुर मुसकान की सृष्टि करते हुए पतले होठ, जिन पर यौवन की लालिमा खेलती रहती थी, देखने-वाले के हृदय को बरबस अपनी ओर खींच लेते थे। अपनी घोड़ी पर जब वह दूर दूर तक फैले नूफ़ूद के रेगिस्तान के बीच घूमने को निकलती तो प्रतीत होता कि साँय साँय करती हुई प्रकृति साकार होकर घूम रही है। यह बात नहीं कि नूफ़ूद की रौला जाति में सुन्दरियाँ होती ही नहीं, परन्तु त्यूमा में एक अलौकिक सौन्दर्य था। उसकी जाति के युवक उससे विवाह करने को इच्छुक थे, परन्तु उससे कुछ कहने का किसी को साहस न होता था।

अरब के मध्य भाग मे स्थित नूफ़ूद की मरुभूमि अपने निवासियों के लिए प्रसिद्ध है। वर्तमान सभ्यता के युग में भी यहाँ के निवासी रौला बंजारों का सा जीवन व्यतीत करते है। अरब की जातियों में ये सबसे प्रमुख हैं। रेगिस्तान में मीलों तक इनके छोटे छोटे तम्बू बिखरे दिखाई देते हैं जिनके आस-पास ऊँटों और पशुओं की भीड़ टिड्डी-दल की तरह छाई रहती है। जहाँ कहीं भी ये जाते हैं वहीं एक छोटा मोटा शहर सा बस जाता है। रौला का यह चलता-फिरता शहर अपने काफिले लिए हुए गर्मी और जाड़े में चरागाह की खोज में फिरा करता है। कभी कभी तो ये लोग सीरिया तक पहुँच जाते हैं।

उस वर्ष गर्मी प्रारम्भ होते होने नूफ़ूद के चरागाहों में घास नाममात्र को भी न रह गई। एक दिन अपने परिवार और समस्त गृहस्थी को लेकर रौला चल पड़े। त्यूमा भी अपने घरवालों के साथ थी। परन्तु उसकी काली घोड़ी तो जैसे हवा से बातें करने के लिए विकल हो; ऊँटों का साथ उसे असह्य हो रहा था। त्यूमा को लेकर वह बढ़ चली।

त्यूमा को अपनी घोड़ी पर गर्व है: और इसमें संदेह भी नहीं कि उसकी बराबरी करनेवाली रौला जाति भर में बहुत कम घोड़ियाँ मिलेंगी। एक छोटे से दल के आगे चलनेवाले एक युवक ने त्यूमा की ओर देखा। उसकी पलकें गम्भीर हो गईं। तो क्या इसे अपनी घोड़ी की चाल पर गर्व है? एक बार उसने दूध से सफेद अपने घोड़े की पीठ थपथपाई। अपने स्वामी का इशारा पाते ही घोड़ा हवा से बातें करने लगा। अपने पीछे घोड़े की टाप की आवाज सुन कर त्यूमा ने मुड़कर उस ओर देखा। उसके अधर मुसकान से खिंच गए। दोनों एक दूसरे से

आगे बढ़ने के लिए अपने अपने जानवर को बार बार उत्साहित कर रहे थे। पर आज शायद त्यूमा के भाग्य में पराजय थी, कुछ ही क्षणों में वह अपरिचित उससे आगे था।

पराजय ने त्यूमा को जैसे शिथिल बना दिया। दोनों रौला के काफिले से काफी दूर आ चुके थे। त्यूमा ने ऊँची आवाज में उसे पुकारा। सरदार ने एक बार मुड़कर पीछे की ओर देखा, गर्व से उसकी आँखें चमक रही थीं, और फिर उसने अपने घोड़े की चाल धीमी कर दी। पास आकर त्यूमा ने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"फैरिस-इब्न नईफ।" संक्षिप्त सा उत्तर मिला।

"फैरिस!" त्यूमा का मस्तिष्क सोचने लगा—फैरिस के सम्बन्ध में उसने बहुत कुछ सुना है। फैरिस शेयर जाति का होते हुए भी कई वर्षों से रौला जातिवालों के साथ आकर रहने लगा है। इतनी नई उम्र में भी उसका जीवन सात्विक और सरल है। पर किसी से भी भय करना उसने नहीं जाना। अपनी योग्यता के कारण उसका राजवंश में भी सम्मान है। रौला का राजा अमीर फौज उस पर बहुत विश्वास करता है।

वह और भी न जाने क्या क्या सोच डालती, परन्तु इसी बीच फैरिस की आवाज ने उसकी विचार-धारा भंग कर दी। फैरिस ने पूछा—"तू कौन है?"

"मैं हूँ त्यूमा।"

क्षण भर वह उसकी ओर देखता रहा। त्यूमा ने अपनी आँखें नीची कर लीं और शायद बालू के छोटे छोटे कणों को गिनने का प्रयत्न करने लगी।

दो हृदयों का आदान-प्रदान हो गया, दो मन उलझ गए कि फिर कभी न सुलझ सकें।

बकरी के चमड़े के दस हजार डेरों का नगर ,रौला, बढ़ता जा रहा था। त्यूमा अधिकतर फैरिस के ही पास रहती। दोनों अपने अपने घोड़े पर मरुभूमि का हृदय नापते रहते। यात्रा दिन पर दिन कठिन होती जा रही थी। मरुभूमि में पानी का कहीं नाम न था। लगभग दो हजार ऊँट रोज मर रहे थे। सभी के मुख पर वेदना खेलने लगी।

बंजारों का यह दल सीरिया की सीमा पर जा पहुँचा। अमीर फौज के आदेश के अनुसार फैरिस ने कुछ दासों के साथ सीरिया की सीमा में प्रवेश किया। शेष लोग पीछे प्रतीक्षा करते रहे। फैरिस शीघ्र ही लौट आया। उसके हाथ में 'जीवन का चिह्न' हरी घास थी। इसे वह हमद के उत्तरी मैदान से लाया था। यदि रौला का यह काफिला वहाँ पहुँच जाय तो उसका सारा कष्ट दूर हो जाय। सीरियाके विदेशी संरक्षकों ने रौला के प्रतिनिधियों को राय दी कि यदि वहाँ के निवासी रौला के आगमन को स्वीकार कर लें तो विदेशी संरक्षक सरकार को कोई एतराज न होगा।

जब फैरिस यह प्रस्ताव लेकर अमीर फौज के पास पहुँचा तो उसकी त्योरियाँ चढ़ गईं। अपने शत्रुओं से वे कभी समझौता नहीं कर सकते। रौला सीरिया में प्रवेश करेंगे, जिसको रोकना हो, रोके। फैरिस के बहुत समझाने पर अमीर फौज राजी हुआ। इब्ने मेहीद के कैम्प में जाने के लिए फैरिस तथा दो अन्य व्यक्ति रवाना हुए।

इब्ने मेहीद के यहाँ सरदारों की 'मंजिल' (सभा) हो रही थी। फैरिस के इस सुझाव को सभी ने पसन्द किया ; केवल साबा जाति के शेख राकन को यह बात पसन्द न आई ; उसने विरोध किया और अन्त में बिगड़ कर 'मंजिल' छोड़ कर चला गया।

फैरिस अपने साथियों के साथ लौट रहा था कि सन्-न् की आवाज सुनकर सब लोग चौंक पड़े। उन्होंने चारों ओर देखा। उन पर गोलियों की बौछार हो रही थी। फैरिस की छाती में दो गोलियाँ लगीं। वे लोग भागने ही वाले थे कि फिर गोलियों की बौछार हुई। इस बार फैरिस का एक पैर बिलकुल बेकार हो गया।

पीड़ा का असह्य भाव उसके चेहरे पर अंकित हो गया परन्तु फिर भी उसने अपने साथियों से कुछ न कहा। वे लोग उसे लेकर अपने कैम्प की ओर चल पड़े। रास्ते भर फैरिस चुप रहा। एक बार भी उसके मुख से कराह न निकली। उसे ले जाकर तम्बू के भीतर लिटा दिया गया।

माँ ने सुना तो जैसे उसका सर्वस्व लुट गया हो। पति की मृत्यु के बाद से यह फैरिस ही तो उसका एकमात्र सहारा रहा है। उसके रक्तहीन सफेद शरीर को देखकर बूढ़ी माँ की आँखों में आँसू छलछला आए। फैरिस ने एक बार माँ की ओर देखा, फिर क्षीण स्वर में कहा—"क्या इस समय मेरे सामने केवल हँसमुख चेहरे नहीं रह सकते ?"

माँ की ममता का बाँध टूट गया। जिस भार को दबा रखने का वह प्रयत्न कर रही थी, वह जैसे उभर कर बह चलना चाहता हो; वह कमरे के बाहर हो गई।

फैरिस के मित्र उसके पास खड़े थे। उनकी ओर देख कर उसने कहा—"त्यूमा ?"

और फिर जैसे आगे वह कुछ न कह सका।

रौला और सीरिया-निवासियों की संधि का समाचार शायद देर से फैला हो, पर फैरिस की इस दुर्घटना का समाचार पलक मारते समस्त रौला जाति में फैल गया। त्यूमा

ने भी सुना तो उसे लगा जैसे उसका शरीर सुन्न होता जा रहा हो।

द्वार पर ही उसे माँ मिली—"त्यूमा!" माँ ने रुँधे स्वर में पुकारा।

"जी, मैं अपने फैरिस के लिए क्या कर सकती हूँ?" त्यूमा ने पूछा। उसकी वेदना आँखों में तैर रही थी।

माँ ने एक बार आँखें उठा कर उसकी ओर देखा फिर बोली—"उसे प्रसन्न रखो। तुम्हें प्रसन्न देख कर उसे प्रसन्नता होगी।"

"आँखों के इन बादलों को छँटने दो माँ, तब मैं तुम्हारे साथ चलूँ।" त्यूमा ने कहा।

और फिर आँखों की उमड़ती सरिता को वह जैसे सोख गई हो। फैरिस प्रत्येक क्षण उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसको देखते ही फैरिस का चेहरा चमक उठा। शरीर से बहुत अधिक रक्त निकल जाने के कारण उसके चेहरे पर अब तक जो पीलापन था उसमें एक बार फिर लालिमा दौड़ गई। वेदना के भार से काले होठों पर मधुर मुसकान बिखर गई। त्यूमा ने दौड़ कर अपना सिर उसकी छाती में छिपा लिया। फैरिस के वक्षस्थल का बहा हुआ रक्त उसके अधरों की लालिमा में मिल गया पर वह फैरिस के सामने यही प्रकट करती रही जैसे उसे यह पता ही न हो कि उसका फैरिस मृत्यु के अंक में खेल रहा है।

थोड़ी देर बाद त्यूमा ने सिर उठाया और अपनी आँखें फैरिस की उन आँखों पर गड़ा दीं। त्यूमा को लगा कि फैरिस की आँखों में एक अन्तिम इच्छा वास कर रही है, परन्तु उसे वह जैसे कह नहीं पा रहा है। उठकर वह बाहर आई, माँ

से कुछ कहा और फिर फैरिस के पास आई।

सन्ध्या से पहले फैरिस के तम्बू में उसके सगे-सम्बन्धियों की भीड़ जुटने लगी। नवयुवती कुमारिकाओं ने एक सुन्दर ऊँट चुनकर उसे सींगों से सजाया। त्यूमा को उसी पर बिठाकर वे फैरिस के तम्बू की ओर ले चलीं। उनके गीत और बाजे की आवाज ने मरुभूमि के विस्तृत शून्य को मुखरित कर दिया। धीरे धीरे यह जुलूस बढ़ने लगा। द्वार पर माँ तथा अन्य स्त्रियों ने त्यूमा का स्वागत किया। उसे ऊँट पर से उतार कर वे भीतर ले आईं। पर त्यूमा विकल थी—उसकी अथाह वेदना जैसे किसी ओर राह न पा रही थी। तम्बू के दूसरे भाग में बैठी हुई वह अपने फैरिस के श्वास-प्रश्वास गिन रही थी।

फैरिस को बधाई देकर अभ्यागत बाहर चले गए। त्यूमा उठी; अपने सारे शरीर के भार से बकरी के चमड़े की बनी तम्बू की दीवाल को फाड़ डाला और फैरिस के निकट जा गिरी।

यह थी उसकी सुहागरात।

दूसरे दिन प्रातः लोगों ने देखा—फैरिस का चेहरा मृत्यु के कारण सफेद हो गया है और उसके पास ही पड़ा है त्यूमा का निश्चल शरीर भी।



बे
ब
सी
०

बंगाली डाक्टर ने रोगिणी की अच्छी तरह परीक्षा करके निराशाभरी दृष्टि से एक बार नीलकंठ की ओर देखा और "बस शेष बूझो।" कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही दरवाजे की ओर घूमा और बाहर चला गया।

नीलकंठ मरणासन्न पत्नी को ताकता रहा।

पास ही खड़ी बुढ़िया, मकान-मालकिन, ने कहा—"बेटा, जल्दी से वह के मुँह में गंगाजल, तुलसीदल डालो।" बौखलाए से नीलकंठ ने तिपाई पर रखी गंगाजल की कटोरी उठा ली। पर तुलसीदल! कहाँ पाए वह?

मकान-मालकिन दौड़कर नीचे से लाई, अपने गमले से। "अरे! खड़े क्या हो, जल्दी करो।" बुढ़िया ने आवाज दी। नीलकंठ झुक पड़ा। मुँह में गंगाजल डालते ही साँस रुक गई।

मकान के निचले हिस्से में हलवाइन की दूकान थी। बुढ़िया

जल्दी से सीढ़ी उतर कर गई और हलवाइन से बोली—"अरे, जल्दी से चूल्हा बुझा दे और दूकान बन्द कर दे। ऊपरवाली मर गई। कहाँ है तेरा गोपाल? जरा भेज दे, बाजार से सामान-वामान लाए। बेचारा नीलकंठ तो इस समय पागल है।

दूकान बन्द हो गई। नीलकंठ ने रूपए दिए और गोपाल मुहल्ले के दो आदमियों के साथ कफन, चुँदरी और अरथो के अन्य सामान लाने चला गया।

मकान-मालकिन और नोचेवाली हलवाइन, ये दोनों औरतें मुँह ढाँपकर मृतक के सिरहाने बैठ गईं। नीलकंठ पागलों सा खम्भा पकड़े न जाने क्या देखता रहा।

अपना अपना भाग्य है। इस मृतक प्राणी के नाम पर जोर से चिल्लाकर रोनेवाला भी संसार में कोई न था।

नोलकंठ का बेटा धन्नू न जाने किस कोने में पड़ा था। धीरे धीरे आकर हलवाइन बुआ के पीछे खड़ा हो गया। आँखे रोते रोते लाल थीं उसकी। वह एकटक शान्त माँ के स्थिर चेहरे और बन्द आँखों में कुछ जानने की कोशिश कर रहा था। वह 'मृत्यु' का अर्थ पूर्णतया नहीं जानता था। अभी तो केवल पाँच ही साल का था।

बुढ़िया ने उलट कर देखा और भरे गले से कहा—"बेटा धन्नू! माँ तो चली गई, एक बार चरण छू ले।"

धन्नू फफककर रो उठा। मानो बुढ़िया की इस बात से वह सब समझ गया।

तभी गोपाल सब सामान लेकर आ गया। केवल चुँदरी नहीं मिली। कपड़े की इस महँगी में सब कुछ कंट्रोल से मिलता था, फिर समय पर चुँदरी कैसे आ पाती।

नीलकंठ ने पत्नी का संदूक खोला और एक लाल साड़ी

निकाल लाया। इससे भी काम चल जायगा।

यह पत्नी की सबसे प्रिय साड़ी थी। वह केवल एक बार इस सुन्दर लाल साड़ी को पहन सकी थी। देखकर नीलकंठ ने कहा था, "किसी रानी से कम थोड़े ही लगती हो।"

पत्नी ने लजाकर मुँह फेर लिया था और दरवाजे पर आ चौखट से लगकर खड़ी हो गई थी। तभी दो आँसू उसकी आँखों से गिरे थे, न जाने क्या सन्देश या अरमान लिए हुए!

उसके बाद वह साड़ी पहनने का अवसर ही न आया। अब आज वह पहनेगी।

तभी नाई ने पूछा—"क्यों बाबू! दाह तो बेटवा देंगे न?"

"हाँ, और नहीं तो क्या?" बुढ़िया मकान-मालकिन ने कहा।

"तो आवें, बाल बनवा लें।"

नाई ने क्षण भर में धन्नू के सिर के सारे बाल उतार लिए। धन्नू अपनी माँ को आग देगा, सो उसे कफन से हाथ भर का टुकड़ा कन्धे पर धरने को मिला। धन्नू फिर रो पड़ा। दिन भर में बीसों बार वह इस प्रकार आज रोया था।

फिर दो मुहल्लेवाले, एक गोपाल और एक नीलकंठ, इन चार जनों ने धन्नू की माँ को अरथी पर लिटा दिया और अरथी उठाई। "राम नाम सत्य है।" की आवाज लगा वे आगे आगे चले और पीछे पीछे नाई के साथ धन्नू चला। मकान-मालकिन और हलवाइन दरवाजे तक साथ आईं, फिर एक बार रोकर वहीं खड़ी रह गईं।

× × ×

नीलकंठ के करम फूट गए। यह नीलकंठ! अभी केवल छब्बीस साल का था। पैंसठ रुपए महीने पर एक अखबार में सहकारी सम्पादक था।

पैंसठ रुपए! जिस दिन नौकरी मिली, रात को उसने पत्नी

से पूछा—"आज तुम खुश हो न ?"

"बहुत ।" मुसकराकर उसने कहा था ।

फिर पास सरककर वह बैठ गई थी और पूछा था—

"तुम्हें अपनी बात याद है न ?"

"हाँ ।"

"तो क्या दोगे मुझे ?"

"जो भी माँगो ।"

"वह साड़ी······· !"

"अच्छा तनख्वाह मिलने दो ।"

और अगली तीसरी तारीख को उसने एक लाल रेशमी साड़ी और बाकी पच्चीस रुपए लाकर पत्नी के सामने रख दिए। साड़ी देखकर वह खिल उठी थी, खुशी और प्रेम से ।

दोनों का जीवन सुख से कटने लगा। महीने की तीसरी को पैंसठ रुपए लाकर वह पत्नी के हाथ पर रख देता और पूरे महीने दफ्तर का काम करता। उसके काम से सभी खुश थे। ठीक साढ़े दस पर वह आफिस पहुँच जाता था, फिर शाम को पाँच बजे तक उसकी कलम पूरे वेग से दौड़ती रहती। कलम रुकती तभी जब घड़ी की घंटी छः बार टनटना उठती ।

सड़क पर मोटर, ताँगे और गाड़ी की आवाज चहल-पहल में हिस्सा बँटाती थी। दफ्तर के अन्य सहयोगी बीच बीच में हँसी-मजाक कर मनोरंजन करते। पर नीलकंठ के होठ केवल फैलकर ही रह जाते थे, उसे आफिस के काम से मतलब था। वह अपनी उसी बेंत की बिनी कुर्सी पर बैठा अगले अंक के लिए विश्व भर की बातें लिखा करता। लड़ाई की खबरें, शान्ति की समस्याएँ, देश की हलचल, विदेश की बातें, न जाने क्या क्या वह लिखता, न जाने कहाँ कहाँ की बातें सोचता।

बस उसकी एक इच्छा थी। वह कुछ रुपए इकट्ठे करके एक छोटा सा घर खरीद ले तथा एक नौकर रख ले। पत्नी को इससे बड़ा आराम मिलेगा। उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। गृहस्थी का परिश्रम उससे नहीं होता था। लेकिन क्या कभी उसकी इच्छा पूरी होगी ?

× × ×

आज नौकरी मिले छः साल हुए। पत्नी को जला-फूँककर वह लौटा तो जीवन की सभी बातें उसे एकदम से याद आ गईं।

लघु जीवन-कथा। नीलकंठ आज छब्बीस साल का है। बीस साल की उम्र में उसका ब्याह हुआ था—एक साधारण गृहस्थ की किशोरी कन्या से। साल भर बाद इक्कीस साल की उम्र में धन्नू गोद में आया और जब वह छठवें साल में पाँव रख रहा था, वह चल बसी—सारी ममता त्यागकर। बस अब तक के जीवन की यही कथा है।

पत्नी के मर जाने से उसके जीवन का सारा आकर्षण मर गया। वह चुपचाप आफिस जाता है। अखबार के साथ मेहनत करता है। न किसी से अधिक बोलता है न किसी से हँसता है। न इस धोखाधड़ी के संसार में वह घर बनवाने को पैसा इकट्ठा करता है।

धन्नू छः साल का है। गेहुँवा रंग, गोल मुँह, वह अपनी माँ को पड़ा है। माँ के मरने के बाद से वह बहुत सीधा हो गया है। शायद संसार में उसे अपना कोई नहीं दिखाई पड़ता। माँ तो मर गई। उसने जीवन का सुख ही न जाना। बैलों की तरह पिसकर गृहस्थी की गाड़ी जब तक वह खींच सकी, उसने खींची। न अच्छा पहन सकी, न अच्छा खा

सकी। रूखा-सूखा खाकर, फटा-पुराना पहनकर जब तक जी सकी जीई, जब बोझ असह्य हो गया तो सदा के लिए सो गई।

अब धन्नू अपने बाप के साथ तड़के ही उठता है। नीलकंठ उसे दो पैसे रोज देता है। धन्नू नीचेवाली हलुवाइन बुआ से जलेबी लेकर नाश्ता करता है। नीलकंठ घर में झाड़ू लगाता है, फिर दोनों एक साथ नहाते हैं, रोटी बनाते हैं और संग ही खाते हैं। फिर कपड़े पहनते हैं और दोनों साथ साथ घर से निकलते हैं, धन्नू स्कूल के लिए और नीलकंठ आफिस के लिए। अगले चौराहे तक दोनों साथ जाते हैं और फिर घूम कर अपना अपना रास्ता पकड़ लेते हैं।

शाम को लौटते हैं। कहारिन चौका-बर्तन कर देती है। फिर खाना बनता है और रात को सोना होता है।

जीवन का यही नीरस क्रम है।

जाड़ा आ रहा है। इस बार धन्नू के पास कोई कोट नहीं है। पिछले सालवाला कोट बिलकुल फट गया है। अभी तक बिना कोट के ही वह स्कूल जाता है। नीलकंठ ने सोचा कि इस बार की तनख्वाह से पहला काम होगा, बीस रुपए लगाकर धन्नू के लिए कोट सिलाना। रही नीलकंठ की बात सो वह केवल शाल ओढ़कर भी आफिस जा सकता है।

आजकल नीलकंठ को अखबार के साथ बड़ी मेहनत करनी पड़ रही है। देश की दशा अच्छी नहीं है। बंगाल में भीषण अकाल पड़ा है। हजारों की संख्या में प्रति-दिन मृत्यु होती है। उड़ीसा में भीषण बाढ़ आई है। लाखों की मृत्यु हो चुकी है। हाहाकार मचा है। सरकार कुछ कर-धर नहीं रही है। राजनीतिक नेताओं ने जनता से सहायता

की अपील की है। जनता में चन्दा हो रहा है। स्कूल-कालिज के छात्र झोलियाँ लटकाकर सहायता माँगते घूमते हैं। अनाज, रुपया-पैसा, कपड़ा, दवा जो देश को जो दे सका।

नीलकंठ के अखबार में भी एक कोष खुला है, जहाँ लोग सहायता भेजते हैं। आफिस के सभी लोगों ने सहायता दी है।

प्रधान सम्पादक ने नीलकंठ से कहा—"भाई, तुम भी कुछ दो।"

तनख्वाह मिली और नीलकंठ ने बीस रुपए दे दिए। सोचा, धन्नू का कोट अगले महीने में बनेगा। तब तक वह स्वेटर पहनकर काम चला लेगा।

प्रधान सम्पादक ने देखा तो आँखों से आश्चर्य टपक पड़ा।

आज शाम को धन्नू ने फरमाइश की कि उसके पास जूता नहीं है। स्कूल में सालाना जलसा है, वह नंगे पाँव न जायगा।

धन्नू ने थोड़ी देर बाद फिर याद दिलाते हुए कहा—"बाबू! आज कोट और जूता भी लेने चलना है।"

"अच्छा।" निराश नीलकंठ बोला।

"तो कब चलिएगा?"

नीलकंठ कब बतलावे!

"बाबू!"

"हाँ······। अच्छा, अभी आता हूँ तो चलना।" कहकर नीलकंठ घर से बाहर निकला।

इस महीने सारा रुपया समाप्त हो चुका है, वह कहाँ से धन्नू का कोट बनवाए, कहाँ से जूते खरीदे। खरीदे बिना भी तो काम नहीं चलता। बेचारा बालक कब तक नंगे पाँव स्कूल जाय। पर रुपए भी तो नहीं हैं और इनकार भी कैसे करे?

वह अपने एक सहकर्मी के यहाँ गया। कहा—"भाई, इस

बार बीस रुपए उधार दे दो। अगले महीने लौटा दूँगा।"

सहकर्मी को कोई बहाना न सूझा। वह बौखलाकर बोला, ,,भाई, बीबी मायके गई है, आने पर ही सम्भव हो सकता है। मैं लाचार हूँ, नहीं तो कभी इनकार न करता।" वह भूल गया कि एक मिनट पहले ही वह बीवी से पान लगवाकर लाया था।

"कोई बात नहीं, कोई बात नहीं।" नीलकंठ ने शरमाकर कहा और जल्दी से वहाँ से भागा।

फिर अपने पड़ोसी बनिए की दूकान पर गया।

"लाला! बीस रुपए होंगे?" नीलकंठ ने लजाते हुए पूछा।

बनिए ने दाँत निपोरकर कहा—"रुपया इस समय तैयार नहीं है बाबूजी, वरना इनकार न करता।" इतना कहकर बनिए ने खाली सन्दूक खोल दिया।

अपना सा मुँह लिए हुए नीलकंठ लौट आया। घर आकर देखा, धन्नू कमीज पहने तैयार बैठा था।

वह बालक को क्या उत्तर दे? दिल दबाकर उसने कहा—"आज नहीं बेटा! तनख्वाह मिलने पर बाजार चलूँगा।" धन्नू का चेहरा सूख गया। रुआसा होकर बोला—

"कल जलसे में सब कोई अच्छा अच्छा कोट और जूता पहनकर आवेंगे।"

"तो क्या करूँ?" नीलकंठ को अपनी बेबसी पर क्रोध आ गया।

"हमें भी जूता ला दो, कोट बनवा दो।"

"अगले महीने में, कह तो दिया।"

"जलसा तो कल है।"

"तो कल मत जाना।"

"हम तो············।"

नीलकंठ चुप।

"हम···हम···।" धन्नू जोरों से सिसकियाँ भरने लगा।

"चुप रह सूअर।" एकदम से नीलकंठ उबल पड़ा।

"हम तो जायँगें।" रोकर धन्नू ने कहा।

"अच्छा तो जा।" कह कर नीलकंठ ने एक तमाचा मारा।

धन्नू तिलमिला गया।

चट!

चट!!

चट!!!

तीन तमाचे पड़े! धन्नू के गाल लाल हो गए।

फिर घूँसे पड़े।

एक! दो!! तीन!!! चार!!!! पाँच!!!!!

धन्नू की पीठ अकड़ गई।

धन्नू चिल्लाकर रो पड़ा, पर नीलकंठ का भूत न उतरा।

एक तमाचा और पड़ा।

धन्नू चीखकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

"रो ले अभागे! जी भर के रो ले। तू भी क्यों न उसके साथ मर गया।"

धन्नू को माँ की याद आई।

"माँ!" वह पुकार उठा। वह तड़प रहा था। नीलकंठ का गुस्सा शांत न हुआ। वह कमरे में साँकल लगा, धन्नू को रोता छोड़ बाहर चला गया।

वह निरुद्देश्य चौक की तरफ निकल गया। एक दूकान के सामने ठिठक गया। एक फिटन आकर रुकी। एक बालक उतरा, किमखाब का कोट पहने। नीलकंठ के सामने पछाड़

खाते हुए धन्नू का चित्र नाच गया। फिर नीलकंठ ने उसका जूता देखा, चर्र-मर्र बोल रहा था। कम से कम बीस रुपए का होगा।

बीस रुपए का जूता!

जल्दी जल्दी पाँव बढ़ाकर वह शहर के बाहर एक पार्क में जाकर बैठ गया और न जाने क्या क्या सोचने लगा।

रात भीगने लगी। शायद आधी रात का घंटा बजा। तभी एक सिपाही ने उसे झकझोरकर कहा—"बाबू जी!"

तब उसे घर की याद आई और वह घर चला। पास पड़ोस-वाले सब सो गए थे। धन्नू की याद से वह तिलमिला उठा। कमरे की साँकल खोली। शीत काल की चाँदनी खुली खिड़कियों से कमरे मे हँस रही थी। धन्नू का मुँह मार से सूज आया था। आँसू के दाग स्पष्ट थे। शायद रोते रोते जमीन पर ही सो गया था। छुआ तो पता लगा, शरीर बुखार से अंगारे की तरह तप रहा है।

नीलकंठ का दिल धक् से रह गया। अगर कहीं धन्नू को कुछ हो गया तो? शायद शर्दी लग गई थी।

अगर धन्नू को कुछ हो गया तो? नीलकंठ किसके सहारे जिएगा? किसके लिए वह पैंसठ रुपए कमाएगा?

उसके पैंसठ रुपए ......उसकी बेबसी।

धन्नू का कोट और जूता-उसका दिमाग घूम गया।



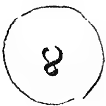
नि

श्च

य

०





लोगों ने कहना शुरू कर दिया है कि सोना अब जवान हो गई है। यह खबर सोना के बाप के कानों में भी पड़ी। अभी तक सोना का बाप उसकी ओर से बिलकुल बेखबर था। गाँव की चर्चा सुनकर उसने सोना को गौर से देखा। लोगों का कहना सच था। वास्तव में सोना अब युवावस्था की ओर पूर्णतया अग्रसर हो चुकी थी। उसका खरा रंग अब निखरने लगा था। उसके बाप का दिल धक् हो रहा। दिल में एक चोर घर कर गया। "यह कलियुग है। सोना की सोनाई पर अगर किसी युवक की नजर गड़ गई तो......?"

उस शाम को सोना के बाप ने अपने दोनों बेटों को इकट्ठाकर सोना के विषय में निश्चय करना शुरू किया। बड़े बेटे ने बताया कि सोना के साथ बिसनाथ का भी नाम गाँववाले लिया करते हैं।

"कौन बिसनाथ?" चौंककर सोना के बाप ने जानना चाहा।

"वही सुक्खू का बेटा।" दूसरे लड़के ने बताया।

"क्या अपना सुक्खू? वह तो अपना पूरा हितू था।"

"हाँ था तो, पर उसके मरने के बाद ही से तो बिसनाथ का रंग-ढंग बदला है।" बड़े लड़के ने बताया।

"पर कभी तुम में से भी किसी ने कुछ देखा?" तीन वार सिर हिलाकर बूढ़े ने दरियाफ्त किया।

"कभी कभी उसे इधर आते-जाते हमने देखा अवश्य है।" दूसरे लड़के ने सिर नीचा करके धीरे से कहा।

क्षण भर सन्नाटा रहा।

फिर एकाएक बूढ़े ने गम्भीर होकर आज्ञा के स्वर में कहा—"कुछ भी हो, सोना की माँ अगर आज होती तो सोना को रास्ते पर लाने में कुछ भी परेशानी न होती। और अब अगर कुछ ऊँच-नीच हुआ तो बदनामी अपनी ही है। आज से हम अपने साथ रात को लाठी रखकर सोएँगे और अगर कोई छोकरा हमें दिखाई पड़ेगा तो ऐसा सीधा हाथ दूँगा कि भविष्य में इधर फिर कभी मुँह भी न करेगा।"

यह बिसनाथ गाँव के सभी छोकरों में मजबूत है। देखने-सुनने में भी सब से सुघड़ और भला है। गाँववालों में यह चर्चा जोरों पर है कि वह सोना से मिलता-जुलता है। जब यह बात काफी आगे बढ़ गई तो एक बार सोना के बाप ने जोरों से गाँववालों को ललकारकर इस अफवाह का खंडन किया।

उत्तर के गाँववालों ने यह सन्देश भेजा कि बात को दबाने के पहले सोना के बाप को चाहिए कि वह गाँव के उत्तरवाले नाले की मोड़ पर वाली झाड़ी के पीछे कभी भी दोपहर या

शाम को सोना की प्रेम-लीला देखे।

कातिक बीता, अगहन आया और जाड़ा गुलाबी रंग पकड़ने लगा। धान की कटनी भी समाप्त हो गई थी। दिन को दस बजते ही सोना अपनी गाय और भैंसों को खोलकर चराने के लिए चल पड़ती। उसके बाप ने नाले की ओर गाएँ चराने की मनाही कर दी थी पर सोना का कहना था कि उधर की ही भूमि अधिक ठीक पड़ती है, इधर चराने से दूसरे खेतवाले बुरा मानते हैं और गायों को पानी पिलाने के लिए उसका नाले तक जाना आवश्यक है।

सोना बड़ी शोख है और अपने जिद्द की पक्की भी। बाप के लाख मना करते रहने पर भी वह नित्य नाले के उस पार गाय चराने जाती थी। बाप परेशान था कि आखिर सोना का वहाँ क्या भीठा है। कहीं गाँववालों का कहना सच तो नहीं है…?"

सोना दिन भर वहीं रहती, उसी झाड़ी के आसपास। शाम को जब सूरज डूबने को होता और दूर नाले के उस पुल पर से अन्य गायों की घंटियों की टुन टुन सोना के कान में पड़ती तो वह भी अपनी गायों की ओर निहारती। पर सभी को वह अपने से काफी दूर पाती, काफी दूर। फिर उन्हें इकट्ठे करने को वह जोरों से ऊँचे स्वर में लम्बा आलाप लेती—

आओ प्यारी, आओ काली, आओ।
साँझ भई घर आओ! आओ, आओ।

सोना का यह बुलावा गायों के कानों में पड़ता और वे सधी सी सोना की ओर बढ़ने लगतीं। गाती हुई सोना भी उन गोरुओं के पीछे अपनी छड़ी घुमाती हुई घर की ओर चलती। उसकी सुरीली तान काफी मधुर होती। शाम को खेतों से घर

लौटते हुए युवकों और रास्ते के राहगीरों के पाँव सोना के सुर में उलझ जाते। उनकी आँखें दूर खलिहानों के बीच गायों की घंटियों के साथ सुर मिलातीं सोना पर टकटकी लगा देतीं। जब सोना दूर अन्धकार में छिप जाती तो उनके हृदय में एक टीस उठती और दिल कड़ा करके वे आगे बढ़ते।

एक दिन गाँव में खूब हुरदंग मचा। बात यह थी कि बिसनाथ सोना से मिलने प्रति दिन शाम होने पर उसके घर के पिछवाड़े जाता था। वहीं वे दोनों मिला करते थे। सोना के रूप के घायल गाँव के अन्य छोकरों को यह बात ज्ञात थी। पर किसी में यह शक्ति न थी कि बिसनाथ से लड़कर सोना का प्रेम जीत सके। बिसनाथ की सभी पर जमी थी। पर फिर भी उन छोकरों का युवकहृदय यह कभी मानने को तैयार न होता था कि इतने सहज में सोना बिसनाथ की हो जाय। सो उस दिन खूब लाठी चली। एक ओर बिसनाथ था और दूसरी ओर गाँव के समस्त छोकरे। मारपीट खूब हुई। पर बिसनाथ के आगे गाँव के उन छोकरों के छक्के छूट गए। बिसनाथ को ऐसे ऐसे दाँव-पेंच मालूम हैं कि उसकी एक लाठी और उन छोकरों की बीस लाठी। छोकरों की हार हुई। बिसनाथ को भी थोड़ी चोट लगी। गाँव भर में यह चर्चा फैली कि बिसनाथ ने सोना के लिए गाँव के सभी लड़कों से मारपीट की। सोना को लेकर वह पूरा पागल हो उठा है।

उस शाम को गाँव के बड़े-बूढ़ों का एक दल सोना के बाप के यहाँ पहुँचा। उस दिन बहस खूब गर्मागर्म रही। गाँववालों की राय थी कि सोना के बाप को चाहिए कि वह शीघ्र ही सोना की शादी कर दे, अन्यथा गाँव में न जाने क्या क्या बखेड़ा होगा। और ताज्जुब नहीं अगर कहीं एक दो के जान की भी

आ पड़े। और इन सब की जिम्मेवारी सोना के बाप की होगी।

सोना के बूढ़े बाप के लिए अब यह सब कुछ सहना असह्य हो रहा था। अपने दोनों बेटों को बुलाकर उसने निश्चय किया कि यह मानी हुई बात है कि बिसनाथ से गाँव का कोई छोकरा नहीं लड़ सकता, फिर यह आवश्यक है कि हम तीनों को उससे निपट लेना चाहिए।

सोना के बाप की उमर इस समय पैंसठ के लगभग होगी, पर उसकी पुरानी हड्डी है और वह इस युग के किसी भी नव-युवक को आसानी से हरा सकता है। तीनों बाप और बेटों ने यह निश्चय किया कि अब वे पूरे ताक में रहें और ज्योंही किसी दिन बिसनाथ मौके से मिल जाय त्योंही सबको उसकी खूब मरम्मत करनी चाहिए।

यही बात तय ठहरी।

× × ×

सूरज उस दिन डूब चला था। गाय-बैल घर वापस आ गए थे। रास्ते में पूर्णतया सन्नाटा छा गया था। पेड़ों के नीचे से घना अँधेरा चोरों सा धीरे धीरे निकलकर सड़कों पर स्याही छिड़कने लगा था। उस समय भी रोज की तरह बिस-नाथ सोना से मिलने जा रहा था। थोड़ी दूर आगे चलकर यहाँ से उसके घर की पगडंडी शुरू होती है। यही एक रास्ता सोना के घर का है। यह पगडंडी भी सोना के बाप के खेतों के बीच ही होकर जाती है। पगडंडी पर कुछ आगे बढ़ने पर उसने सामने दूर पगडंडी के दूसरे छोर पर दो मनुष्यों को आते देखा। पर क्षण भर बाद जब उसने पुनः सामने की ओर ताका तो वे दोनों आगन्तुक गायब थे। बिसनाथ को आश्चर्य हुआ कि आखिर बीच रास्ते से वे कहाँ चले गए। पर इससे बिस-

नाथ को क्या, वह निश्चिन्त हो आगे बढ़ता रहा।

अब वह काफी निकट आ गया। झोपड़ी यहाँ से दिखाई पड़ने लगती थी। बिसनाथ यह सब सोच ही रहा था कि किसी ने पीछे से बिसनाथ की पीठ पर हमला किया। बिसनाथ को जानवर का डर लगा, पर जब उसके सिर पर मार पड़ी तो समझ गया कि किसी मनुष्य ने ही आक्रमण किया है। वह झट सावधान हो गया। आक्रमणकारी ने पुनः पीछे से हमला किया। बिसनाथ ने पीछे घूमकर आक्रमणकारी को ढकेल दिया। वह बगल के खेत में चित्त गिर पड़ा। उसके मुँह से गन्दी गालियाँ स्पष्ट निकल रही थीं। बिसनाथ ने कड़ककर पूछा—"कौन हो तुम ?" तभी किसी अन्य ने बिसनाथ की पीठ पर एक लाठी दी और कहा—"आज तुम्हें ठीक कर देंगे।"

ये दोनों आक्रमणकारी सोना के भाई थे।

"हम भी आए !" सोना के पिता ने भी दूर से लाठी बजाते हुए दौड़कर कहा।

इसके बाद तीनों एक साथ बिसनाथ पर टूट पड़े।

बिसनाथ अपने को संकट में फँसा देख, जान पर खेल लाठी चलाने के पूरे कलाकौशल को काम में लाने लगा। वे तीन थे और बिसनाथ अकेला। फिर भी बिसनाथ ने तीनों आक्रमण-कारियों के शरीर से थोड़ा थोड़ा सा खून निकाल ही लिया, पर उस को भी काफी चोट लगी। कारण तीन प्रबल आक्रम-णकारियों का सामना करना बड़ा कठिन था। अगर उसके स्थान पर कोई दूसरा होता तो अवश्य ही भाग खड़ा होता। बिसनाथ के शरीर में जहाँ-तहाँ काफी चोट लगी और खून भी निकला। उसके एक एक जोड़ में असहनीय पीड़ा होने लगी। सोना के बाप ने चिल्लाकर कहा—

"अब छोड़ दो, काफी मरम्मत हो चुकी है।"

तीनों अपने घर की ओर बढ़े और बिसनाथ जिस रास्ते आया था, उसी रास्ते लौटा। घर पहुँचकर वह दर्द से कराहता अपनी खाट पर गिर पड़ा।

सोना के घर में इस विषय पर खूब बात हुई। आखिर सोना क्यों खानदान की नाक काटने पर पड़ी है।

पर सोना चुप ही रही।

उस दिन वह अपने घर के पीछे छिपी बिसनाथ का आसरा देख रही थी। बहुत देर बाद जब वह घर लौटी तो उसने सुना कि उसके पिता और भाइयों ने बिसनाथ की खूब मरम्मत की है। वह फूट फूट कर रो उठी। उसने मन ही मन निश्चय किया कि वह शादी करेगी तो बिसनाथ से ही, नहीं तो कुएँ में कूद पड़ेगी।

इसके बाद लगातार चार दिन तक बिसनाथ ने खाट न छोड़ी। इन चार दिनों का अधिकतर समय उसने बीमारी और बेहोशी में काटा। पाँचवें दिन रात को वर्षा हुई। सुबह सर्दी अधिक बढ़ गई। पर सूरज जो निकला तो रोज से अधिक सुहावना लगा। वर्षा के बाद का सुबह ऐसा ही होता है। पेड़ों की पत्तियाँ वर्षा से धुलकर और भी चमकीली हो गई थीं और उन ताजी नहाई हुई पत्तियों पर जब सुबह के बालसूर्य की सुकुमार किरणें पड़ीं तो पत्तियों का रंग अधिक पीला और चमकीला लगने लगा। बिसनाथ ने उठने की कोशिश की, पर उठ न सका। बड़ी मुश्किल से वह खुली खिड़की के सामने आ सका। दूर पूरबवाले नाले की ओर वह एक टक देखने लगा। गाँव की गाय-भैंसें चरने के लिए टुनुर टुनुर घंटी बजाती आगे बढ़ रही थीं। टुनुर टुनुर में उसे लगा जैसे नाले के उस पार उस पत्थर

पर बैठी सोना अपनी मधुर तान से सारा वातावरण मधुर कर रही है। बिसनाथ का जी बाहर निकलने को छटपटा उठा।

लौटकर वह पुनः अपनी खाट पर लेट गया। परसों तक वह अवश्य चंगा हो जायगा। फिर अच्छा होते ही वह सोना के घर जायगा। लेकिन अगर कहीं इस बार भी सोना के घर-वालों ने उसकी उसी प्रकार मरम्मत की तो फिर वह न बच सकेगा। उसने एक बात सोची। वह किसी और रास्ते से सोना के घर की ओर जायगा।

परसों आया।

बिसनाथ आज सोना के घर तक जाने लायक हो गया है। जब दिन कुछ ढला तो वह उठा। घर से निकलने के पूर्व उसने अपना डेढ़ हाथ का सोटा साथ ले लिया। सीधे रास्ते से न जाकर वह बहुत दूर पीछे जाकर तब सोना के घर की ओर मुड़ा। रास्ते भर वह सोचता जा रहा था कि अगर आज मिला तो वह खूब लड़ेगा, चाहे जान भी चली जाय।

सोना का गाय चराना अब बन्द कर दिया गया था। वह घर पर ही रहा करती थी। घर का काम-काज खतम करके इस समय वह जरा बाहर निकली। नाले की ओर नजर जाते ही उसे बिसनाथ की याद आ गई। हाय! उसी के कारण तो बिसनाथ पर मार पड़ी। व्यथा से उसका जी तड़प गया। बगलवाले खेत के एक कोने में बैर का एक पेड़ था। उसी के नीचे एक डाल पकड़ कर वह खड़ी हो गई। दुःख से कलेजा फटा जा रहा था। उसने गाना शुरू किया—

"दुःख के दिन अब कैसे काटूँ!"
रह रह पिया की याद सतावे!"

बड़े ऊँचे स्वर से उसने गाया। सारा वातावरण गूँज

उठा। गाना गा चुकने पर उसका जी कुछ ठंढा हुआ। उसका काला कुत्ता उत्तरवाली पहाड़ी पगडंडी की ओर मुँह कर जोरों से भूँक रहा था। सोना को लगा–उस उत्तरवाले दालान से मानो कोई उसके गाने का उत्तर दे रहा था—

"रात गई अब दिन भी आया,
आओ प्रीतम हिलमिल खेलें।
सूरज का मुँह लाल हुआ है!"

उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। आखिर किसकी हिम्मत हो सकती है। उसने पुनः दो कड़ियाँ गाईं। उसे फिर उत्तर मिला। कुत्ते का भूँकना प्रतिक्षण तीव्र हो रहा था। आगे बढ़कर उसने देखा। वह धुँधली सी छाया आगे बढ़ रही थी। सफेद कुरता-धोती। सिर के बाल उड़ रहे थे। हाथ में सोटा था। दाहिना हाथ ऊपर उठाकर उसे दिखा दिखाकर हिला रहा था—तो यह बिसनाथ आ रहा है। वह धक् से हो गई। कहीं उसके बाप या भाई को पता लग गया तो! भगवान से उसने मनाया कि किसी को पता न लगे। कुत्ते का भूँकना भी उसे जहर लग रहा था। उसने कुत्ते को अपनी टाँगों के बीच छिपाना चाहा पर वह न माना, भूँकता ही रहा— भूँ भूँ भूँ भूँ!

दूर सेम की लतर की आड़ से सोना का बाप देख रहा था—सोना की बेचैनी और दूर रास्ते पर धीरे धीरे आगे बढ़ते हुए बिसनाथ को।

माथे पर उँगलियाँ फेरकर उसने कुछ सोचा—क्षण भर। फिर एकदम सीधे घर आकर अपने दोनों बेटों को बुला उसने निश्चय करना शुरू किया।

"बिसनाथ अपनी ही जाति का तो है।"

"हाँ!" एक लड़के ने कहा।

"बलिष्ठ है और आचरण का भी बुरा नहीं है।"

इस बार लड़के चुप रहे।

"क्या बुरा है अगर सोना की शादी बिसनाथ से ही कर दी जाय।"

"बुरा तो नहीं, पर गाँव की चर्चा?" दूसरे लड़के ने कहा।

"अरे गाँव को छोड़ो, अपना देखना है।" मुँह बनाकर सोना के बाप ने कहा।

× × ×

जो निश्चय होना था हो गया। दोनों बेटों ने खेत की ओर जाते हुए देखा—घर की पिछली दीवाल के नीचे बिसनाथ की गोद में सोना का सिर पड़ा था।

नागिन



५

मिर्जापुर रेलवे स्टेशन। रात को साढ़े ग्यारह बजे बम्बई मेल छूटी। गाड़ी के चलने पर जब हवा डिब्बे में आई तो हमने एक लम्बी साँस ली। किसी प्रकार चढ़ तो आया था, पर अब बैठने के फेर में चारों ओर निहारने लगा, पर जगह कहाँ थो। जो दो-चार भले आदमी स्टेशन आने पर जाग गए थे वे भी पुनः बैठे ही बैठे आँखें बन्द कर झपकियाँ लेने लगे थे। हमें डिब्बे भर में ऐसा कोई भी न दिखाई पड़ा जिससे थोड़ा सरकने की भी प्रार्थना कर सकते। बड़ी देर यों हीं देखते देखते कोने में ऊँघते उस बूढ़े पर मेरी आँखें गईं।

सरकते सरकते लोगों की नींद जगाते हम उस बूढ़े तक पहुँचे, फिर बड़े प्रेम से उसके घुटनों को हिलाकर हमने जगाया। सिर ऊपर उठाकर आधी मिनट तक वह हमें अजीब तरह से घूरता रहा। फिर बोला—"कहो।"

"जरा यह गठरी ऊपर रख लो और हम यहाँ बैठ जाँय।"—हमने कहा। बिना कुछ कहे-सुने उस बूढ़े ने अपनी टाँगों पर गठरी रख ली। हमने सोचा, यह बूढ़ा भला आदमी है। इसलिए गठरी मैंने ही अपने से ऊपर के बर्थ पर रख दी।

बैठकर हमने देखा—बाहर घोर कालिमा थी। आज बदली भी छाई थी. अँधेरे का कुछ पूछना ही न था। ठंढी हवा कभी कभी डिब्बे में घुसकर किसी सोते मुसाफिर को छेड़ देती और वह मुसाफिर तिलमिला उठता। एक बार दृष्टि घुमाकर चारों ओर देखता, सब कुछ ठीक पा फिर सिर नवा लेता। मुझे यह अजीब सा लगा। डिब्बे में बन्द हम सभी मुसाफिर एक एक कीड़े से थे। बाहर के अन्धकारमय संसार का इस संसार से कुछ मतलब न था।

तभी घूमकर हमने बूढ़े की ओर ताका। वह अब भी एकटक हमें ही घूर रहा था।

यह ऐसा क्यों? मेरे दिल में खटका हुआ। हमने पूछा—"बाबा, कहाँ तक जाओगे?"

हमने उसे बाबा कहा। वह था भी बाबा ही कहाने योग्य। बूढ़ा काफी था, दाढ़ी और मूछ खिचड़ी थी, सिर पर पुरानी पगड़ी थी। देखने में वह जरा अधिक गम्भीर और भद्र मालूम पड़ा। बाबा के उत्तर में उसने बेटा कहा—

"बेटा, मैं ससराम तक ही जाऊँगा। इसके बाद मेरी भी जगह तुम ले लेना।"

हमें इस बात पर लज्जा मालूम हुई; क्योंकि हमारे पूछने का यह तात्पर्य कभी न था। उसने कहा—"मैं समझता हूँ तुम्हें काफी दूर जाना है और दूर की सफर में अधिक तकलीफ उठाने से बीमार पड़ जाने का डर है।"

"हाँ, हमें कलकत्ते जाना है।" बूढ़े के निकट होते हुए हमने कहा।

"किसी भले घर के लड़के मालूम होते हो। शायद अग्रवाल या खत्री हो।"

" हाँ, हम अग्रवाल हैं।" हमें बूढ़े की इस अनुभव-दृष्टि पर आश्चर्य हुआ।

इसके बाद उसने हमें घूरकर एक ठंढी साँस छोड़ी और बाहर के अन्धकार को अपनी कमजोर दृष्टि से भेदने की कोशिश करने लगा। मुझे भी न जाने क्या हुआ कि उसे देख कर यह समझते देर न लगी कि उसे इस समय कुछ परेशानी हो रही है और शायद कारण मैं ही हूँ।

"पर आप इतने परेशान क्यों हो गए?" हमने अनायास ही पूछा।

"कुछ नहीं। तुम अगले स्टेशन पर यह डिब्बा बदल देना।"

"क्यों?" हमें डर लगा।

"मान लेना इस बूढ़े की बात। इस डिब्बे में एक नागिन है, कहीं तुम्हें डस न ले।"

"नागिन! कहाँ?"—हमने कहा।

वह एक सूखी हँसी हँसा और बोला, "वह देखो।"—उँगलियाँ उसकी दूसरी ओर के बर्थ पर थीं। हमने उसी ओर ताका।

एक युवती बेखबर सो रही थी—शर्म के स्थान पर बेशर्मी का झंडा ऊँचा किए हुए। हमें देखकर अजीब सा लगा। डिब्बे के इतने लोगों के सामने भी क्या कोई स्त्री यों सो सकती है? हमारे मन में प्रश्न उठा। उसके सिर से सिर मिलाए हुए एक पुरुष भी लेटा था—आधे बाँह की सफेद कमीज और एक

पैजामा पहने। सिर के बाल बड़े बड़े थे गुंडों के से।

"तो यही नागिन है ? हो सकती है।"

उसकी ओर से घूमकर हमने बूढ़े को ताका। उसने कहा—
"देखा ! बस मेरी परेशानी के कारण तुम्हीं दोनों हो।"

"हम ?..."

"हाँ। तुम हो भले और दुनिया के नए मुसाफिर और वह न जाने कितना रास्ता तय कर चुकी है।"

"पर उससे हमें क्या ?"

"अभी दुनियाँ से तुम्हारी नई दोस्ती है।"

हमें सब कुछ भूला भूला और नवीन सा लगा। इस बात को परेशानी का कारण समझकर हमने उसे रोकने को डिब्बे के बाहर देखना आरम्भ किया। अन्तरात्मा काँप उठी। यह बूढ़ा, यह नागिन, ये सारे डिब्बे के भले आदमी और बाहर यह अंधकार ओढ़े रात्रि, सारा वातावरण ही हमें अजीब सा लगा।

"इधर देखो।" बूढ़े ने कहा।

हमने देखा।

"डर गए ! मर्द हो, घबड़ाओ नहीं।" बूढ़े का गला भर आया।

"यह कौन है ?" हमने भरी आवाज में पूछा।

"यह ! यह दिल्ली की मशहूर वेश्या है। मैं भी वहीं से आ रहा हूँ।"

वेश्या ! वेश्या !! कैसे गन्दे शब्द हैं ये। लगा, ये पत्थर बन कर मेरे सिर पर गिर रहे हैं।

"मैं बिलकुल सच कहूँगा। इनके चंगुल से हर जवान को बचना चाहिए।"

हम मुँह निहारते उसकी ओर देखते रहे और बूढ़ा आप ही आप न जाने किस प्रेरणा-वश कहने लगा—

"देखो, मैं कहता हूँ वह सब सच है। मुझसे कुछ छिपा न था। वह बिलकुल तुम्हारी उम्र का था। क्या उम्र है तुम्हारी बेटा ?"

"इक्कीस साल।"

"बिलकुल ठीक, इतनी ही थी। बिलकुल तुम्हीं जैसा सुन्दर और जवान वह था। तुम्हारी तरह वह भी नया पथिक था। रास्ता उसे मालूम न था, इसीलिए तो ... ।" क्षण भर आँखें बन्दकर के वह रुक गया।

"वह तुम्हारी हीतरह भोला था। भले घर का लड़का था, इसीलिए तो अधिक कोमल भी था। उसे आदमी की पहचान न थी। सभी उसकी नजर में भले थे। उसे दुनिया के खेल का छक्का-पंजा मालूम न था। एक दिन कालिज से आकर बोला—"महादेव, आज खाना न बनाना। सिनेमा जायँगे, वहीं खा लेंगे।" वह गंगापुर के जमीदार का लड़का था। मैं था कारिन्दा, पर माँ के मरने के बाद मैंने उसे कलेजे से लगाकर इतना बड़ा किया था। दूसरी माँ से उसकी नहीं पटी सो पढ़ाने के बहाने बाबू साहब ने हमें साथ करके शहर भेज दिया था। वह सदा शहर में ही रहा।

"हाँ तो उस दिन खाना नहीं बना। मेरी भी तबीअत अच्छी न थी सो मैं भी आलस में पड़ गया। रात को बड़ी देर में वह लौटा। चुपचाप खाट पर जाकर लेट रहा। मैंने पूछा, "बाबू ! खा-पी लिया है या भूखे ही हो ? कुछ लाऊँ ?"

"नहीं महादेव !"

बस उसने यही कहा, पर मुझे समझते देर न लगी कि उसने शराब पी है। मैंने सोचा कोई बात नहीं। बहुत बड़े घर का है सो सभी कुछ करना चाहिए। आज शराब, कल कुछ और।

मैं लौटकर अपनी खाट पर लेट गया। घंटों सोचता रहा। यह मदन मुझे कितना प्यार करता है पर क्या मेरे कहने से भविष्य में शराब से घृणा करने लगेगा? पर यह असम्भव है। शेर के मुँह में खून लग जाता है तो कभी भूलता नहीं। तभी रात को ही उसने पुकारा। शायद नशा उतर गया था। मुझे पास पा वह लगा बच्चों सा गिड़गिड़ाने—"महादेव, आज गलती हो गई। मैं कभी नहीं पीता था। हाँ, आज मैंने एक खूब सुन्दर लड़की देखी है। वह भी सिनेमा देखने आई थी। सुन्दर खूब है।" मैं चुप रहा और मदन पागलों सा कहता गया—

"मुझे वह बड़ी अच्छी लगी। कभी मिलेगी तो तुम्हें भी दिखाऊँगा, पर मुझे माफ कर दो।"

"अच्छा सो जाओ बाबू।"

फिर मदन सो गया। उसने माफी माँगी थी। यह उसकी आदत थी। अपने हर अच्छे-बुरे कामों का वह मुझसे वर्णन अवश्य करता और माफी माँग लेता पर माफी का कुछ प्रभाव न पड़ता।

फिर दूसरे दिन भी शाम को मुझसे उसने रुपया माँगा। मैंने दे दिया और वह चला गया।

पर उस दिन से उस सिनेमावाली सुन्दर लड़की ने उसे घायल कर दिया था। रह रह कर वह छटपटा उठता था। पढ़ने बैठता तो उसका मन न लगता और उसी लड़की के सोच में वह काफी समय नष्ट कर देता।

वह नासमझ था न, इसलिए समझा कि उसने उससे प्रेम शुरू कर दिया है, पर दुबारा तो उसने उसे देखा भी न था और जितना प्रेम मदन कर रहा था उससे उसे तसल्ली न थी।

यद्यपि मदन ने मुझसे सब छिपाने की कोशिश की पर लड़-

कपन से मैंने उसे पाला था। उसकी नस नस से मैं परिचित था। उसके दिल में होनेवाली एक एक धड़कन से मैं पूर्ण परिचित था। उसकी प्रत्येक अच्छी और बुरी आदत मुझे ज्ञात थी। यह समझते मुझे देर न लगी कि वह उस अज्ञात लड़की के रूप-जाल में बुरी तरह उलझ गया है।

एक दिन वह अपने मनचले साथियों के चक्करमें पड़कर गाना सुनने गया। यद्यपि इस पतन के मार्ग के लिए वह कदापि दोषी न था फिर भी जवानी का जोश था, सब कुछ सम्भव था। मजबूर होकर वह गया। शायद तुम समझ गए होगे?"

"नहीं, हमने कुछ नहीं समझा।"--हमने उत्तर दिया।

तभी हमलोगों ने यह अनुभव किया कि गाड़ी की चाल धीमी हो रही है। झाँककर बाहर देखा। आगे शायद कोई स्टेशन था। चारों ओर बिजली के लट्टू ही अपना अधिकार जमाए थे।

"यह कोई स्टेशन है।" हमने कहा।

"हाँ, मुगलसराय होगा।"

सचमुच गाड़ी मुगलसराय के प्लेटफार्म पर आ खड़ी हुई। भीड़ की अधिकता के कारण डिब्बे भर के लोग जाग गए पर प्लेटफार्म दूसरी ओर था, इसलिए हम लोग अधिक परेशान न हुए और बूढ़े ने फिर कहना शुरु किया—

"हाँ, तो वह वही लड़की थी जिसके लिए मदन पागल हो रहा था।"

"क्या वह वेश्या थी?" मुझे अचम्भा हुआ।

"हाँ, वह वेश्या थी। उस सड़क की सब से मशहूर पान की दुकान के ऊपर उसका कोठा था। बगल से सीढ़ी पर चढ़ने का रास्ता था। मदन जब वहाँ पहुँचा तो जब नीचे ही था तभी

उसके कानों में सुरीली सुरीली तानें बहने लगीं। उसके सारे शरीर में रोमांच की लहर दौड़ गई। दोस्तों ने सीढ़ी पर पाँव रखे। वह सबके पीछे था। ऊपर जाकर सभी एक सिलसिले से बैठ गए, पर मदन ने उसे जो यहाँ इस रूप में देखा तो दिल उसका तिलमिला उठा। उसे विश्वास न हो रहा था।

"तो यह वेश्या है! मैं मूर्ख हूँ।"

उसके मन में यही हो रहा था। उसकी उम्मीद की दीवाल बैठने सी लगी। लगा, मानो एक,एक करके सभी ईंटें सरक रहीं हैं। हाँ तो उसके दिल की वह आदर्श नारी वेश्या थी। उसका दिल बैठने लगा। क्या इसी वेश्या के लिए वह परेशान था। उसे लगा कि वह उठकर वहाँ से भाग जाय, पर लोग क्या कहेंगे? वह रुक गया। वह विवश था।

गाना शुरू हुआ। वह गा रही थी—"पिराय मोरी अँखियाँ हमसे न बोलो।" आह! क्या दर्द है गले में। पीड़ा थी स्वर में। गाना सुन मदन सब कुछ भूलकर देखने लगा उसका सौन्दर्य और उसकी अदाएँ।

गाना बरबस हृदय की उस पीड़ा को उलट-पुलट देना था। दर्द बढ़ जाता था। वह रमणी और उसकी आँखें क्या अजीब चीजें थी। मदन का सिर घूम गया। लगा, मानो कमरे की दीवालें चारों ओर से सरकती आ रही हैं और शीघ्र ही वह इन दीवालों में दब जायगा।

गाना समाप्त हुआ। अब शिष्टाचार के अनुसार उसने पान का बरतन अपने पास सरका लिया और एक एक को दो-दो बीड़े पान देने लगी। झुककर बड़ी नम्रता से वह पान भेंट करती और लोग बदले में एक या दो रुपए का नोट भेंट करते। मदन सबसे किनारे बैठा था और इस सभ्यता को सीख रहा था।

आखिर उसने मदन की ओर भी वैसे ही दो बीड़े बढ़ा दिए। झटपट मदन ने थाम लिए, यद्यपि कभी उसने पान खाए न थे और बदले में झट दस रुपए का एक नोट आगे बढ़ा दिया। दोस्तों को देखकर आश्चर्य हुआ। एक ने जानकर खँखार भी दिया और उस वेश्या ने अदब से झुककर उसे आदाब अर्ज किया।

इसके बाद उसके सभी मित्र उठे। वह भी उठा। चलते चलते एक दोस्त ने पूछ ही लिया—"पर बाईजी का नाम?"

"इस नाचीज को लोग मैना कहते हैं।"

"हाय! हाय!" एक मित्र ने ठंढी साँस ली मानो उसे गर्मी लगी हो।

मदन को यह सब बुरा लगा, पर वह रास्ते भर मैना मैना रटता रहा। यह शब्द उसे बड़ा मधुर और प्रिय लगा।

घर आकर मदन कई दिनों तक उलझा रहा। किसी बात में उसका मन न लगता और यह ठीक भी था। उसकी प्रेमिका एक वेश्या निकली। उसका दिल यह सब कैसे सह सका होगा, तुम नहीं सोच सकते।

एक दिन मदन ने एक पत्र लिखा, "मैना, तुम मैना सी ही मधुर हो। इसमें कोई सन्देह नहीं। पर क्या तुम जान सकती हो कि तुम्हारी आँखों का दर्द यहाँ किस हद तक उतर आया है। काश!"

तीन दिन तक उसने उत्तर की प्रतीक्षा की, पर उत्तर न आया। उसने फिर एक पत्र लिखा—

"इस मरीज का रोग अन्य रोगियों से अधिक भयानक है। दवा आवश्यक है, वर्ना......।"

पर इसका भी उत्तर नदारद था। मदन हर तीन रोज पर

उसे एक पत्र लिख दिया करता पर उत्तर नहीं आया, नहीं ही आया।

आखिर एक दिन ऊबकर और कोई चारा न देख वह फिर मैना के कोठे पर गया। बाहर से ही उसने देखा। कई उसी जैसे उसको रिझा रहे थे और पीछे वह भी बैठा रहा।

फिर एक, दो, तीन, चार, उसके कई प्रेमी आए और गए। ताँता एक बजे तक न टूटा। जब सब चले गए तो मैना ने उसे देख आश्चर्य से पूछा-"आप अभी तक बैठे ही हैं?"

"हाँ।" कहकर जेब से उसने दस दस के दो नोट निकाले। मैना ने सहज मुसकान से उसका स्वागत किया और मदन ने कहना शुरू किया। दिल की इतने दिनों की दबी आग दहक उठी थी। उसने सब कुछ कह डाला।

"तो आप ही रोज पागलों के समान चिट्ठी भेजते थे। मैंने तो उन्हें पढ़ना भी छोड़ दिया है, यों ही फाड़ डालती हूँ।"

"तो क्या तुम उन्हें पढ़ती भी नहीं?"

"नहीं, कोई काम की बात भी रहती है?"

मदन का दिल इस पर टूट गया। उसने सोचा कि चिट्ठी में कोई लाभ की बात नहीं? कहीं चिट्ठी सा ही मुझे भी न निराश होना पड़े। किसी दिन मैं भी ऐसा ही बिना काम का हो जाऊँगा।

इसके बाद वह चला आया। घर पर दो दिनों तक वह खाट से न उठा। निराशा और थकान उसकी हर हड्डी में भर गई थी। पर फिर भी मैना को वह अपने मन से निकाल न सका।

उसने छः दिन बाद खीझकर एक पत्र और लिखा-"मैना, मुझे खोकर तुम्हें दुःख होना चाहिए। मैंने जान लिया कि तुम

वेश्या हो, नारी जाति का कलंक हो। तुम्हारा झूठा शृंगार, झूठा आकर्षण क्या तुम्हें समझा सकता है, जिससे तुम अब भी सम्हल सको। यह जरूरी...।"

पर उत्तर फिर भी न आया और आता भी क्यों। मैना ने चिट्ठी पढ़ी ही न होगी। ऐसे ऐसे न जाने कितनों को वह रास्ता दिखा चुकी थी।

मदन अब पूर्णतया निराश था। वेदना उसमें भर गई थी। दुःख, पीड़ा, वेदना, ईर्ष्या अपना स्वरूप भयानक बनाकर सामने नाचने लगी थी। प्रेम, सौन्दर्य, तृष्णा, घृणा इन सब में उसे कुछ भी अन्तर न मालूम हुआ।

इसी खींचातानी में कई महीने बीत गए। मैना के दुर्व्यवहार तथा चिन्ता ने मदन को आधा कर दिया। मैना की नारी को वह जितना ही सुलझाने का प्रयत्न करता, वह उतनी ही उलझती जाती। वह दाव चलाता, वह छिटक जाती। मदन की पकड़ के वह बाहर थी।

एक दिन मैंने कहा—"बाबू, अपनी तन्दुरुस्ती का खयाल नहीं करते? शीशे में देखो कितना अन्तर आ गया है।"

"क्या सचमुच मैं पहले सा नहीं हूँ?"

"नहीं बाबू! तुम बिलकुल आधे हो गए हो।"

"हाँ महादेव, पर मेरे लिए इतने परेशान क्यों हो?"

"फिर यहाँ तुम्हारी देखभाल करनेवाला कौन है? भला बाबू साहब को क्या मुँह दिखाऊँगा, तुम्हारी इस दशा पर।"

क्षण भर बाद उसने कहा—"महादेव! मैंने जान लिया कि दुनिया झूठी है, कागज की नाव है, छली है, फरेबी है। पर तू सच्चा क्यों है?"

इसका मेरे पास कोई उत्तर न था।

फिर आखिर वही हुआ जिसका मुझे डर था। एक दिन मदन ने खाट पकड़ ली।

वह बुखार में बड़बड़ा रहा था—"मैना! मैना! मेरे मरने का पाप तुझ पर लगेगा। मुझे सताएगी तो मैं भूत बनकर तेरे सिर पर सवार होऊँगा। तुझे कभी चैन से न रहने दूँगा। हाँ—हाँ—हाँ।" फिर वह बेहोश हो गया।

मैं घबड़ा गया। डाक्टर आए। एक घंटे में वह ठीक हुआ। मैंने शान्ति से कहा—"बाबू! अब घर चलना जरूरी है। चलो, चलें।"

"नहीं महादेव, अब मरने वहाँ न जाऊँगा।"

"दिल न छोटा करो बाबू। अच्छे हो जाओगे।"

"नहीं महादेव, अब हम जान गए। मैं जिऊँगा नहीं। देखो हमें यम का भैंसा दिखाई पड़ा था रात को। मौत ने मुझ पर फन्दा डाल दिया है।"

मैं उसे विश्वास न करा सका कि वह ठीक हो जायगा। डाक्टरों से सलाह ली तो पता लगा कि टाइफाइड है। इक्कीस दिन में अच्छा हो जायगा।

एक दिन दशा बड़ी खराब थी। बुखार से बुत्त मदन ने कहा—"महादेव! अब मैं मरनेवाला हूँ। जाओ, एक बार उसे बुला लाओ। मरने के पहले देख लूँ।"

मैंने समझाया—"सो जाओ बाबू, साँझ को बुलाऊँगा। वह अवश्य आवेगी। तुम सो जाओ।" सब्र करके वह सो गया।"

हमने देखा बूढ़े की आँखें बरसने लगी थीं। मैंने उधर से मुँह घुमा लिया और सुनता रहा।

"शाम को उसने फिर कहा, "महादेव! क्या उसे न बुलाओगे? जिन्दगी भर सुख दिया है, क्या अब शान्ति से मरने न दोगे?"

बात मेरे दिल में तीर सी लगी। शाम को मैं गया। उसके कोठे के नीचे घंटों खड़ा रहा। सोचा, सन्नाटे में चलूँ और सारी बातें कहूँ पर वह सन्नाटा हो तब न। आने-जानेवालों का ताँता लगा रहा। थोड़ी देर बाद एक आदमी आया। शायद वह शराब पीए था, कारण उसकी चाल वैसी ही थी। वह भी ऊपर चढ़ा। फिर दो-तीन मिनट बाद ऊपर मैंने जोर २ का शोर सुना। शायद किसी से लड़ाई हो रही थी। फिर उसके बाद मैंने देखा कि वही शराबी सीढ़ी से लुढ़कता नीचे आया। शायद किसी ने उसे ढकेल दिया था। नीचे आकर वह सम्हला और फिर उठकर बुरी बुरी गालियाँ देता एक ओर बढ़ गया।

यह सब मुझे अजीब सा लगा। मैं यों ही लौटकर वापस आ गया। मदन से मैंने बहाना कर दिया कि वह मुजरे में गई है। फिर लगातार मैं तीन दिन तक बहाने ही बनाता रहा। एक दिन मदन ने कहा—

"तुम झूठे हो। क्यों मेरी तड़फती पीड़ा पर भी दया नहीं खाते। महादेव, अब भी जाओ न!"

फिर उस दिन हिम्मत करके मैं उसके कोठे पर चढ़ा-देखा वह कमरे से निकल रही थी। मैंने उससे कुछ कहना चाहा कि उसने बिना सुने ही झिड़क दिया। नीचे मोटर खड़ी थी। जाकर वह बैठ गई। कोई बाबू साहब मोटर में इन्तजार कर रहे थे।

लौटा तो मैं बिलकुल झुँझलाया था और कह दिया, "बाबू, आप तो मैना मैना रटकर मर रहे हैं और वह उड़ी चलती है। कहीं गई है मोटर से, बात भी नहीं सुनती।"

"बात भी नहीं सुनती!" कराहकर मदन ने दुहराया।

तीन दिन और बीते। शाम का समय था। आरामकुर्सी पर

बैठाकर हम लोग उसे दरवाजे पर लाए। कई दिनों से वह कह रहा था।

तभी सड़क पर घोड़े की टप टप के साथ एक फिटन निकली। किसी के साथ वह घूमने जा रही थी।

देखकर मदन की आँखें पथरा गईं। सम्हालकर हम उसे भीतर ले गए और इसके एक घंटे बाद उसने साँसें तोड़ दीं।"

कहते कहते बूढ़ा चुप हो गया। क्षण भर बाद हमने देखा-बूढ़ा अपना चदरा लपेट रहा था और गाड़ी की चाल भी धीमी पड़ रही थी।

एक मिनट बाद गाड़ी ससराम स्टेशन पर रुकी। उतरकर उसने मेरी पीठ थपथपाकर कहा—"भलों का साथी भगवान है। घबड़ाना मत।" और वह बढ़ा चला गया। गाड़ी भी चली।

अपने चारों ओर हमने एक सूनेपन का अनुभव किया। घबड़ाकर ऊपर देखा—वह नागिन अँगड़ाई ले रही थी। उसकी गोरी गोरी बाँहें...! ओह !!

डरकर हमने घुटनों में मुँह छिपा लिया।

———

स्मृतिशिला ०

६

हेराल्ड को दफनाकर तो लौट आया पर उसको 'स्मृति-शिला पर क्या लिखाया जाय ! हेराल्ड, जिसे जानने-पहचानने, जिसके अन्तर के 'अथाह' तल में धीरे धीरे बहते हुए सिकता-कणों को छूने का प्रयत्न करके भी मैं असफल रहा, उसका परिचय पत्थर की चन्द लकीरों में कैसे दूँ——————?

हम लोगों के लिए वह एक आश्चर्य का विषय था। बिलकुल गोरा बदन, सफेद हाफपैंट, कमीजनुमा गंजी, सिर पर तिरछी 'नाइट कैप' और पाँवों में सलीपट पहने जब हाथ में वह मुड़े हुए 'स्टेट्समैन' का बासी अंक लिए आ पहुँचता तो सारे राजनीतिक कैदी एक बार हँसकर उसका मौन स्वागत करते। वह भी जैसे अपने में और हम में–अँगरेज और हिन्दुस्तानी में–कोई अन्तर न मानता। कैदी तो कैदी। वह अँगरेज कैदी, हम राजनीतिक भारतीय कैदी, पर थे दोनों ही सरकारी बन्दी,

अतिथि ! नाम था उसका ओकनर हेराल्ड । हाँ, वह हमसे पहले अवश्य यहाँ आ गया था ।

एक दिन उसने टूटी-फूटी हिन्दी में-जिसमें अँगरेजी के भी कुछ शब्द मिले थे-बताया कि जब से राजनीतिक कैदी आ गए हैं तब से वह बहुत खुश रहता है । उसे अच्छे साथी मिले हैं । पहले इन चोर-डाकुओं के साथ रहना उसे बिलकुल ही अच्छा न लगता था ।

बात चाहे जितनी झूठी हो पर यह तो सच था ही कि हम लोगों के कारण वह ताजा अखबार पा जाता था, कुछ देशी और विदेशी पुस्तकें भी । कुछ राजनीति की चर्चा भी कर लेता था और समय-असमय जब वह जेलर से लड़ बैठता था, तो हमारा सहयोग उसे विजयी बनाता ।

हमारे साथ रहते रहते, गाँधीजी की चर्चा सुनते सुनते, गाँधीजी पर उसे बड़ी श्रद्धा हो गई थी । पर गाँधीजी के धर्म के प्रति वफादार रहने की बात उसके दिमाग में न घुसती थी। धर्म और भगवान् को वह अपने सूने जीवन में कोई स्थान न देना चाहता था । उसकी यह बात कुछ अजीब सी थी ।

हम लोगों ने जब बहुत खोज-जाँच की तब यही पता लगा कि वह हत्यारा है । उसने एक पादरी, एक सिपाही और एक ग्रामीण की हत्या की है । तीनों को गोली मारी है । क्यों मारी, इसका यही पता लगा कि पादरी ने उसको धोखा देकर उसकी प्रेमिका का विवाह किसी दूसरे अँगरेज से करा दिया ।

पर यह कुछ रहस्य की बात लगी और इसे जान लेने को हम बेचैन हो उठे ।

हम उसके और अधिक निकट आना चाहते थे, यह भेद

जान लेने को। पर जब कभी उससे इस कहानी की चर्चा करते तो वह टाल जाता।

एक दिन की बात है—वह अपने निश्चित समय पर न आया। हम लोग चाय साथ ही पीते थे। बड़ी देर तक आसरा देखा पर फिर भी वह न आया तो उसकी कोठरी की ओर जाना ही पड़ा।

जाकर देखा, वह अपना काला कम्बल ओढ़े पड़ा था—उदास और निश्चल। काले कम्बल के बीच छिले बादाम से गोरे चेहरे में से दो फटी फटी आँखें-सो भी काली-एकटक बाहर की ओर निहार रही थीं।

हमें देख एक बार वे झपीं, फिर पूर्ववत् खुल गईं। हमने आगे बढ़ कर पूछा—

"क्यों साहब, क्या बात है?"

सारे कम्बल को कँपा देने को ही केवल सिर हिल गया; पर वह बोला कुछ नहीं। मेरे मन की शंका दृढ़ हुई—यह मौन क्यों?

"क्यों, बोलो क्या बात है?"

"हम 'फास्ट' करेगा।"

"'फास्ट'! क्यों?"

"और किया करने सकता है? जेलर हमको आलू नहीं देता, 'लाइफब्वाय सोप' नहीं देता, धोबी नहीं बुलाता, अंडा नहीं मँगाता। हम क्या करने सकता?" वह बोला। मन का विक्षोभ बाँध तोड़कर निकल चुका था। अपना असन्तोष, जेलर का अन्याय वह इसी प्रकार प्रकट करने लगा।

मुझे कुछ अजीब सा लगा और उसकी प्रकृति के अजीबपने से अधिक अजीब लगा उसका 'फास्ट' करने का निश्चय।

मैं मन ही मन यह स्वीकार करने का कष्ट पा रहा था कि तीन आदमियों को बिना हिचके गोली मार देनेवाला यह हिंसक अँगरेज मानव आज अहिंसापूर्वक 'फास्ट' करने चला है। मेरे मन में कुछ कुतूहल भी हुआ। और कैसा सत्याग्रही बना है? कम्बल ओढ़कर किस ढंग से लेटा है? जरा देखिए न! काले कम्बल में वह सूखा सा छोटा चेहरा और उस चेहरे पर दो चमकती हुई आँखें—टिमटिमाते दीपक सी निरीह!

मेरे मन का कुतूहल बाहर आ ही तो गया। बहुत रोका, पर हँसी की एक रेखा मेरे चेहरे पर दौड़ गई और यह जुल्म हो गया।

न जाने हेराल्ड के मन को क्या हो गया। शायद मेरी हँसी से उसे व्यथा हुई और उसने मुँह घुमा लिया—न जाने घृणा से या दुःख से। मैं देख न पाया, परन्तु उसके इस कृत्य से मेरा सारा मुँह लाल हो गया-मुझे लज्जा लगी। लगा कि मैंने उसके दुखी हृदय का दुःख बढ़ा दिया है। इससे मुझे कष्ट भी हुआ।

कुछ गम्भीर होकर मैंने कहा-"क्यों हेराल्ड, क्या तुम बुरा मान गए?" वह कुछ न बोला।

मैं घूमकर उसकी खाट की दूसरी ओर चला गया। अब वह विवश था।

मैंने फिर पूछा तो उसने कहा-"हाँ, तुम हमारे पर हँसता? हम नहीं बोलेगा।"

"नहीं भाई, हम हँस नहीं रहे हैं। अच्छा, चलो चाय पीएँ।"

"हम बोला न, हम 'फास्ट' करेगा।" हेराल्ड ने उसी पहले जैसी दृढ़ता से कहा।

"लेकिन ऐसे 'फास्ट' नहो करते, आओ आज चलो। हम सभी साथी मिल कर सोचें। फिर कुछ निश्चय करेंगे।" मैंने समझाने की कोशिश की।

"नहीं, हम तो 'डिसाइड' कर चुका।"

"लेकिन यह 'फास्ट' का ढंग तुमने कहाँ सीखा ?"

"क्यों, वह देखो............।" और उसने सिरहाने मेज पर रखी गाँधीजी की आत्मकथा के अँगरेजी अनुवाद की ओर हाथ उठा दिया।

मैंने उसे भी देखा और हेराल्ड को भी। इस बार मेरे कुछ पूछने के पहले ही उसने कहा–"हमने यह गाँधी से सीखा। हमारा यहाँ क्या 'पावर' है। हम 'फास्ट' करेगा और इसी से जेलर से लड़ेगा। और जब 'फराइडे विजिट' पर पादरी आएगा तो उससे कहकर मजिस्ट्रेट को हाल भेजेगा...।" कहता हुआ हेराल्ड रुक गया। मैं देख रहा था कि यह तो सत्याग्रह की पूरी रूपरेखा है। हेराल्ड ने लम्बी साँस छोड़कर अपनी बात पूरी की–"और अगर पादरी भी कुछ न करेगा, मजिस्ट्रेट भी कुछ न करेगा तब हम यहीं मर जायगा—पर खाना नहीं खायगा, नहीं खायगा।"

इस अँगरेज के निश्चय ने हमें कँपा दिया। हम भारतीयों को इसका साथ देना चाहिए या नहीं? कुछ निश्चय नहीं कर सकता था। मैंने कहा–"लेकिन तुमने जेलर से कहा कि अगर वह सब ठीक नहीं रखता तो हम 'फास्ट' करेंगे? गाँधीजो तो पहले कहते हैं, फिर कुछ करते हैं।"

"लेकिन हम अब कुछ नहीं कहता। जेलर तो बदमाशी करता है, उसे सब 'नालेज' है। हम कुछ बेसी नहीं कहता।"

अब मैं जान चुका था कि इसका निर्णय बदलना सम्भव

नहीं। और सचमुच तीन दिन तक वह भूखा रहा, अपनी कोठरी से बाहर भी न निकला।

हम लोग बहुत चाहकर भी उसे कुछ ठोस मदद न दे सके। वह अनशन करके पड़ा था। पहले दिन तो जेलर ने कोई चिन्ता करने का कष्ट न उठाया। परन्तु जब हेराल्ड ने दो दिन तक कुछ खाया-पीया नहीं तब उसे थोड़ी चिन्ता हुई। जब वह हेराल्ड की कोठरी में गया तब हेराल्ड ने अपना मुँह घुमा लिया। इससे बातें करना भी उसे पसन्द न था। /उसने पूरी तरह असहयोग ठान लिया था। अन्त में जेलर हम लोगों से मिला और हम लोग हेराल्ड के पास गए। परन्तु हेराल्ड का जो रूप था उसे सोचकर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सदा ही मांस-मछली खानेवाले इस अँगरेज की दो ही दिनों के अनशन में जो हालत हो गई, उसका वर्णन कठिन है। गोरा गोरा चेहरा बिलकुल रक्तहीन सा काला काला हो गया था और गालों पर जो गड्ढे बन गए थे उससे तो लगता था मानो महीनों का बीमार है। आँखों के नीचे छाई कालिमा से लगता था जैसे उसमें बोलने की शक्ति भी न हो और सचमुच ही उसे बोलने में बहुत कष्ट हो रहा था।

मैंने कहा—"हेराल्ड! जेलर तुमसे बातें करना चाहता है।"

"लेकिन हम बातें करना नहीं माँगता।"

"पर अगर तुम बात नहीं करोगे तो वह तुम्हारी बात कैसे सुनेगा?"

"बात सुनने से किया करता? हमको जो मिलना चाहिए, वह सब नहीं देने से हम 'फास्ट' 'ब्रेक' नहीं करेगा और ऐसे ही मर जायगा।"

उसके इस दृढ़ निश्चय का मेरे मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

अँगरेजों के प्रति मेरे मन में घृणा और अनादर का जो भाव अब तक अपना स्थान बना चुका था, लगता था, हेराल्ड उसे धो देगा। हेराल्ड के प्रति मुझे इतना मोह और प्यार हो गया था कि मैं विवश था उसको सब कुछ सहायता करने के लिए।

पर जब हम जेलर से मिले तो पता लगा कि वह भी कम नहीं है। वह जेलर था और शायद आदमी जेलर नहीं होते। जेलर के चुनाव के समय शायद देखा जाता होगा कि आदमी के रूप में एक ऐसा जीव हो जिसके सीने में दिल न हो और अगर हो तो पत्थर का या अन्य लोहे जैसी किसी धातु का। मैंने जेलर को बहुत समझाने की कोशिश की कि हेराल्ड के लिए जितनी वस्तुएँ मिलने का नियम है, वे उसे दी जायँ।

"हाँ, यह सब होगा, पर वह कम्बख्त तो बात भी नहीं करना चाहता।"

"हाँ, इसके लिए आप क्या करेंगे? उसका मन है, बात नहीं करता।"

"तो मैं भी कुछ नहीं करता और करे वह 'फास्ट'। मैं भी देखूँगा। मरने की धमकी देता है तो उसे मर ही लेने दूँगा।"

मैं इसका कुछ भी उत्तर न दे पाया। वे एक जेलर के शब्द थे। और इधर वह भी तो अपनी जगह पर अड़ा था-वह हेराल्ड जो जेलर से बात भी नहीं करना चाहता था।

हमारे सामने प्रश्न था कि यह समस्या सुलझे कैसे? अन्त में तीसरा दिन भी इसी खींचातानी में बीत गया और जब हम सभी कैदियों ने जेलर के इस अमानुषिक व्यवहार के विरोध और हेराल्ड के अनशन की सहानुभूति में अनशन रखने का निश्चय कर लिया तो जेलर को झुकना ही पड़ा। चौथे दिन सबेरे ही स्वयं जेलर तो नहीं, पर जमादार हेराल्ड की सभी चीजें लिए

आ पहुँचा। 'लाइफब्वाय' साबुन, अंडे, आलू, धुली चादर, कम्बल और सब कुछ लिए हुए।

हम लोगों के अनशन करने की नौबत भी न आई और काम हो गया। जमादार को लिवाकर मैं हेराल्ड के पास पहुँचा और उसे विजय पर बधाई दी।

उसी दिन उसने 'फास्ट' तो 'ब्रेक' कर दिया पर गाँधीजी की अहिंसा ने उस पर अपना और अधिक प्रभाव जमा लिया। सब काम करने के पूर्व वह गाँधीजी के नियमों को एक बार अवश्य दुहरा लेता। सिद्धान्तों को सदा याद रखता।

परन्तु जब कोई सिद्धान्त बुरी तरह मन पर जम जाता है तब बुरा होता है। अहिंसा उस पर इस बुरी तरह छा गई थी कि पाँव के नीचे चींटी के आजाने पर भी वह दो घंटे अफसोस करता था।

एक दिन की बात है। जेलखाने में उसकी बैरक के सामने पपीते के कुछ पेड़, बड़े घने उगे थे। उनकी सामूहिक छाया से थोड़ी जगह की धूप छिप जाती थी और काफी शीतल छाँह हो जाती थी। हेराल्ड वहीं उसी छाँह के झुरमुट में लेटा था—बिलकुल सीधा, पाँव पर पाँव चढ़ाकर। सिर के नीचे तकिये का स्थान 'स्टेट्समैन' के साप्ताहिक अंक को दे रखा था और अपनी दोनों हथेलियाँ आँखों पर रखे था। इस प्रकार वह बिलकुल निर्जीव सा पड़ा था। घूमते घूमते मैं भी उधर जा निकला तो देखा कि उसके बाएँ पाँव के नीचे से खून निकल रहा है, धीरे धीरे। जैसे कोई छोटा काँच का टुकड़ा गड़ गया हो और धीरे धीरे खून बह रहा हो। देखते ही मैंने पूछा—"हेराल्ड, यह क्या हुआ?"

मेरा प्रश्न सुनकर उसने हथेलियाँ हटा दीं और बन्द आँखें

खोलकर एक बार मेरी ओर निहारा, फिर अपने दाएँ हाथ को एक उँगलो से पपीते के पेड़ के नीचे उसी ओर इशारा करके कहा—"उसने थोड़ा काट दिया।" और कहकर वह पूर्ववत् चुप, निस्पन्द !

मैंने उसको उँगली द्वारा इंगित दिशा में देखा। अपने पाँवों पर बैठी एक गिलहरी कुछ कुटकुटा रही थी। मेरे मन में अचानक प्रश्न उठा—"तो क्या गिलहरी पाँव में काट गई?"

पर मन में प्रश्न के उत्तर की आवश्यकता ही न थी। जो कुछ सामने देख रहा था उसमें भी क्या सच, क्या झूठ? मैंने तत्काल पूछा—"वाह, और तुम वैसे ही लेटे रहे। तुमने पाँव हिला भी दिया होता तो गिलहरी की पास आने की हिम्मत न होती। मारा भी नहीं?"

"पर उसे भी क्या मारना? 'लिटिल क्रीचर'!"

मैं बड़े पशोपेश में पड़ा। इस अहिंसा के पुजारी से श्रद्धा करें या घृणा। क्या अहिसा का यह अर्थ है कि गिलहरी शरीर में काट ले और अपनी रक्षा न की जाय?

अन्त में मैंने मन ही मन इस अँगरेज गाँधीवादी को प्रणाम किया। काश! ऐसे हो सब अँगरेज होते।

उस दिन से हेराल्ड को मानो कभी कभी हमसे बातें करना अधिक अच्छा लगने लगा। वह जानता था कि उसे जेलर पर विजयी बनाने में मेरा अधिक हाथ था।

एक दिन बात ही बात में मैं वही पूछ बैठा जो मेरे लिए अब तक रहस्य था। "अच्छा यह बताओ कि तुमने पादरी, सिपाही और उस आदमी की हत्या क्यों की?"

पहले तो वह चौंका। शायद उसे मुझसे इस प्रश्न की आशा न थी। फिर उसने बहुत झिझकते हुए बताया—

वह लुई को प्यार करता था, बहुत अधिक प्रेम। दोनों अचानक एक यात्रा में बम्बई से यहाँ तक साथ आए थे। रास्ते में दोनों ने एक दूसरे के सामीप्य में जिस अपनेपन और मधुरता का अनुभव किया, वही उनके प्रेम का अंकुर सिद्ध हुआ। फिर तो यहाँ आकर अक्सर दोनों शिकार खेलने जाते। हेराल्ड और लुई ने शादी का निश्चय कर लिया था। उस दिन जब लुई गिरजे में प्रार्थना करने गई थी, तभी युवक पादरी का मित्र लारेंस उसे मिला। नया नया इंगलैंड से आया था वह युवक-चंचल, अच्छी आदतोंवाला और हँसमुख। लुई को देखकर न जाने कैसा लगा था और उसने भी तो जिस तरह लुई को देखा था वह हेराल्ड अब तक न भूला था।

हेराल्ड ने जब लुई से शादी की तिथि निश्चित की तभी अचानक पिता की बीमारी को लेकर उसे पन्द्रह दिनों के लिए बम्बई जाना पड़ा। फिर जब लौटा तो देखा कि उसका सारा सपना तोड़ डाला गया है। पता लगा, लुई कहीं चली गई। पादरी ने बताया कि उसने लारेंस से शादी कर ली है और दोनों अपनी सुहागरात मनाने दार्जिलिंग चले गए हैं। हेराल्ड को सब समझने में बड़ा कष्ट हुआ। लुई, लारेंस और सुहागरात! उसे लगा कि यह सब इसी धूर्त पादरी की बदमाशी है और उसी शाम हेराल्ड ने उस पादरी को अपनी गोली का निशाना बना दिया।

हेराल्ड चाहता था कि वह दार्जिलिंग जाकर और इसी गोली से लारेंस और लुई को भी निशाना बनाकर बताए कि किसी के दिल को खिलौना बनाने का क्या परिणाम होता है। लुई ने सचमुच हेराल्ड के दिल के साथ खेल किया था।

परन्तु दार्जिलिंग जाने के पूर्व ही पादरी का हत्यारा होने

के कारण पुलिस ने उसे गिरफ्तार करना चाहा। हेराल्ड ने तो साफ कह दिया था कि वह खुद 'कोर्ट' में हाजिर हो जायगा पर दार्जिलिंग से लौटकर। किन्तु पुलिस के न मानने पर उसने एक सिपाही को, जो बहुत बढ़ाव का बातें करता था और एक चौकीदार को भी, उसी क्षण समाप्त कर दिया—जैसे हेराल्ड के सिर पर यम सवार था। उसकी बन्दूक तनिक भी संकोच या विचार न करती थी। उसका घोड़ा हर समय गोली छोड़ने को ही तत्पर रहता था।

इस प्रकार हेराल्ड के क्रोध ने उसे तीन आदमियों का हत्यारा बना दिया था। और इस घटना से तो हाहाकार मच गया। सारे जिले की पुलिस और जनता स्तब्ध थी। उसी रात, जब तीन बजे की गाड़ी से वह दार्जिलिंग जाना चाहता था, तभी गिरफ्तार हो गया। जाड़े के कारण वह अपने ओवरकोट में हाथ डालकर घूम रहा था और अचानक जब गाड़ी आने का शोर हुआ तो दो सिपाहियों ने पीछे से आकर उसके हाथों को पकड़ लिया। फिर कई लोग उससे लिपट गए और वह कैद हो गया।

वह जेल में बन्द किया गया। कानूनन तो उस पर मुकदमा चलना चाहिए था, फाँसी की सजा होनी चाहिए थी, पर वह था अँगरेजी राज्य का जमाना। भला एक अँगरेज कैसे फाँसी पाता? उस युग में अँगरेजों के सात खून माफ थे। सरकारी वकील ने उसे हत्यारा न बताकर पागल कह दिया और होश-हवाश ठीक होने पर भी पुलिस द्वारा पागल होने का सार्टी-फिकेट पाकर वह एक पागल बनाकर जेल में रखा गया था। आगे क्या होता सो क्या मालूम, हाँ यह हमने पता लगा लिया था कि इस प्रकार पागल की स्थिति में वह तीन वर्ष जेलखाने

मे रहेगा। तब तक अगर पागलपन उतर गया तो छोड़ दिया जायगा और अगर पागलपन बना रहा तो किसी पागलखाने को आबाद करेगा।

कुछ भी होता, उसकी इन कुछ करुणामय, कुछ अस्वाभाविक परिस्थितियों में घटी घटनाओं ने मुझे उसके प्रति दयालु बना दिया। मैंने समझा कि मनःस्थिति के थोड़ी बिगड़ जाने के कारण ही उसने ऐसा किया है। हाँ, पादरी को यह धोखा न करना चाहिए था.............. ।

कई दिनों तक हेराल्ड की यह कहानी मेरे मस्तिष्क में चक्कर काटती रही। एक दिन मैंने फिर पूछा—उसके मन का भेद लेने को--उस समय की मनःस्थिति को समझने को।—"क्या तुम बाहर निकलकर लारेंस से भेंट करोगे और उससे बदला लोगे?"

"नहीं, हमने उसे माफ कर दिया है। गाँधी की अहिंसा है—'फारगिव-फारगेट।' लेकिन नहीं, हमने लुई और लारेंस दोनों को 'फारगिव' कर दिया पर 'फारगेट' नहीं कर सकता!"

मैं अवाक्! तीन मनुष्यों का हत्यारा अपने शत्रु को इस तरह क्षमा कर सकेगा। मेरे लिए यह सोचना भी कठिन था।

मैंने फिर पूछा–"क्या तुम लुई से विवाह कर सकते हो?"

"हाँ, अगर वह चाहेगी तो......!"

पर दूसरे ही दिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मेरे एक साथी ने मजाक में कहा कि लुई आई है और हेराल्ड से 'इन्टरव्यू' करना चाहती है। उत्तर में हेराल्ड ने कसकर एक चपत लगा दी। मैंने पूछा कि क्यों मारा तो बताया—"यह क्यों हमारे सामने लुई का नाम लेता है। हम उसे 'हेट' करता है।"

"पर कल ही तो तुम कहते थे कि शादी करोगे लुई से!"

मेरी इस बात पर वह क्षण भर चुप रहा, कुछ सोचा समझा, फिर एकदम चिल्ला उठा—"हम उसे 'हेट' करता है। 'हेट', 'हेट'...!'

उसका यह व्यवहार मेरी समझ में बिलकुल न आया—कभी कुछ, कभी कुछ। उसका व्यक्तित्व ही मेरी समझ से परे था। उसकी मनोदशा—अगर मैं कोई दार्शनिक होता तो उस दृष्टि से गहराई में सोचता, उपन्यासकार होता तो चरित्र की विचित्रता समझता, मनोविज्ञान का ज्ञाता होता तो उसकी मनःस्थिति की चीरफाड़ करता, पर मैं तो एक साधारण राजनीतिक कैदी था।

इस प्रकार इस घटना के बाद भी तीन महीने तक मैं उसी जेल में रहा, फिर दूसरी जगह भेज दिया गया। पर जब तक रहा, हेराल्ड एक पहेली की तरह मेरे मन पर छाया रहा। कभी वह लुई से विवाह कर लेने की बात करता, कभी उसे 'हेट' करने की बात करता।

जब मैं जेल से छूटा तो मैंने जो सबसे पहला काम किया वह यह कि हेराल्ड को पत्र लिखा कि वह मुझे अपने छूटने की सूचना दे। इसी तरह मेरा उसका पत्र-व्यवहार चालू हो गया और प्रति मास मैं जेल की मुहर से अंकित उसका पत्र प्राप्त करने लगा।

इधर स्वराज्य मिल जाने के बाद मैं इलाहाबाद आ गया हूँ। रहने के लिए बहुत दिनों तक कोई मकान न मिला। बड़ी मुश्किलों से एक बँगले का आधा हिस्सा खाली हुआ था, वह भी यों कि उसमें रहनेवाला अँगरेज अफसर विलायत लौट गया था। मैं बँगले के उसी आधे हिस्से में आ गया। दूसरे आधे

हिस्से मे एक दूसरा अँगरेज परिवार रहता था। ई० आई० आर० के लोको डिपार्टमेंट का चीफ इंजीनियर। परिवार में केवल पति-पत्नी ही थे। दोनों नई उम्र के, खुशहाल दम्पति। कभी कभी तो मुझे उन दोनों को देखकर ईर्षा भी होती। मैं इस अँगरेज दम्पति में अच्छी तरह घुलमिल गया था। मैं उन दोनों को मानता था और वे भी मेरी इज्जत करते थे। वे जानते थे—मैं प्रोफेसर था और मेरी शिष्टता का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उनकी मेरी मित्रता का एक और कारण था—स्वराज्य के बाद से अँगरेजों का डर हिन्दुस्तानी नहीं मानते थे और इसलिए अँगरेज भी भारतीयों से मित्रता का व्यवहार करने लगे थे।

हाँ, तो इधर दो महीनों से हेराल्ड का मुझे कोई समाचार नहीं प्राप्त हुआ था, यद्यपि इस नए शहर और नए बँगले में आने की सूचना मैं हेराल्ड को भेज चुका था। उस दिन शाम को मैं इसी उधेड़बुन में पड़ा था कि किसी प्रकार हेराल्ड की कुछ खबर मिलती। न जाने क्यों मैं हेराल्ड में अपनापन अनुभव करने लगा था। एकाएक रेलवे अस्पताल से चपरासी आया, बताया कि इन्जीनियर साहब मोटर-दुर्घटना में बुरी तरह घायल हो गए हैं। मैं तत्काल अस्पताल पहुँचा। सचमुच वह बुरी तरह घायल हुआ था। उसकी मोटर एक गड्ढे में पड़ कर उछल गई थी, इससे उसके कलेजे पर काफी धक्का लगा था और काफी मात्रा में रक्त बह गया था। बेचारी मिसेज तो बुरी तरह घबड़ा गई थीं, मैंने उन्हें समझाया और राय दी कि वे भी अपने पति के साथ अस्पताल में ही रहें। घर की चिन्ता न करें। मैं सब देख लूँगा और उन लोगों को अपनी शक्ति भर सहायता करूँगा।

दूसरे दिन सुबह साढ़े नौ बजे का समय रहा होगा। मैं लारेंस को देखकर अस्पताल से लौटा था और कालेज जाने की तैयारी कर रहा था कि एक ताँगा बाहर रुका, उस पर से एक अँगरेज उतरा और मेरी ओर बढ़ा। पहले तो मैं हैरान होकर देखता रहा फिर पहचान गया। "हलो हेराल्ड, यू आर हियर।" मेरे मुँह से अचानक निकला।

हेराल्ड मुझसे लिपट गया। पूरे ६ वर्ष के बाद अपने जेल जीवन के इस साथी को यहाँ देख कर मैं हैरान हो रहा था।

बाद में पता लगा कि हेराल्ड परसों ही छूटा है। अब सरकार ने उसे पागलपन से बरी कर दिया है। बम्बई जा रहा है, रास्ते में मुझसे मिलने उतर पड़ा है। फिर तो हेराल्ड से बड़ी देर तक बातें हुईं। मैंने हँसी में पूछा—"कहो, तुम्हारी वह प्यारी किताब?"

"कौन, गाँधी की?"

"हाँ, हाँ वही!"

"वह हमारे ट्रंक में है।" उसने कहा। सुनकर हमें फिर हँसी आगई।

उस दिन मैं कालेज नहीं गया और फिर बातों के सिल-सिले में बताया कि हमारा पड़ोसी अँगरेज कल मोटर-दुर्घटना में घायल होकर अस्पताल में पड़ा है। फिर दोपहर को खाना खा चुकने के बाद मैं हेराल्ड को लिवाकर अस्पताल गया पर यह क्या! हेराल्ड और मिसेज ने जो एक दूसरे को देखा तो दोनों ही दो दो कदम पीछे हो रहे। पहले तो दोनों ही एक दूसरे को फटी आँखों से देखते रहे–जैसे किसी को एक दूसरे के प्रत्यक्ष होने का विश्वास ही न हो रहा हो। मैं यह सब अवाक् देख रहा था कि अपने चेहरे के भाव को सम्हाल कर

हेराल्ड ने हँसने का अभिनय करते हुए कहा—"हलो लुई ! हाऊ...।"

"यस हेराल्ड !" कुछ भयभीत सी, चीख के स्वर में लुई बीच ही में बोली।

मैंने देखा, अब बात कुछ सम्हली। जब मैंने दोनों का परिचय कराने को सोचा तब मुझे याद आया कि हेराल्ड ने जेल में बताया था कि उसकी प्रेमिका लुई की शादी धोखे से लारेंस से कर दी गई थी। यह मिसेज लारेंस, वही लुई है। अब यह सोचते ही मुझे डर लगा कि कहीं हेराल्ड कुछ उन्नीस न कर बैठे। पर धन्य है अहिंसा का प्रभाव! उसने तो ऐसा अभिनय किया जैसे उन घटनाओं की उसके हृदय पर कोई छाया ही न थी, लुई अवश्य ही बहुत उदास और भयभीत–डर से काली हो रही थी।

मेरे साथ हेराल्ड और पीछे पीछे लुई—हम तीनों लारेंस के कमरे में गए। आज वह सबेरे ही से बेहोश था, कमजोरी के कारण। उसे देखकर हेराल्ड का चेहरा एक बार तो लाल हो गया पर उसने शीघ्र ही अपने को सम्हाल लिया। लुई बहुत उदास थी। आँखों में आँसू भरकर उसने बताया कि डाक्टर का कहना है कि इनके शरीर का दो पौंड खून कम हो गया है। अगर कोई अँगरेज ही खून दे तो ये बच सकते हैं। और मेरे तो विस्मय का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि हेराल्ड न जाने क्या सोचकर डाक्टर के कमरे की ओर बढ़ गया। मुझे चिन्ता हुई और लुई तो बुरी तरह काँपने लगी। मैं पीछे पीछे भागकर हेराल्ड के साथ गया। वहाँ देखा–वह डाक्टर से कह रहा था कि उसके शरीर का खून यदि काम दे सके तो वह दो पौंड दे देगा। हेराल्ड का चेहरा चमक रहा था।

डाक्टर ने अपनी आँखें बचाकर कहा—"लेकिन दो पौंड खून निकल जाने से तुम बहुत कमजोर हो जाओगे। शायद जिन्दगी......।"

"कुछ भी हो, आप ले लीजिए। यह लुई का पति है। इसे जिन्दा रखना ही है। मैं लुई के लिए अपना खून जरूर दे सकता हूँ। तुम नहीं जानते डाक्टर कि मैं लुई को कितना प्यार करता हूँ।"

डाक्टर तो इसे देख-सुन कर हैरान था ही, उससे अधिक हैरान मैं था कि यह कैसा आदमी है जो अपने शत्रु की रक्षा के लिए अपनी जान तक खतरे में डाल सकता है।

पर मेरे या डाक्टर के कहने-समझाने का क्या असर उस पर हो सकता था। शाम को हेराल्ड के शरीर का खून लारेंस को देने की बात ठहरी। तभी जब हेराल्ड बाहर खड़ा था, लुई ने बरामदे में आकर हेराल्ड से कहा—बहुत डरते हुए, हिचकते हुए, कुछ काँपते हुए, "हेराल्ड डियर, हाऊ शुड आई थैंक यू ....!" बात यहीं पर लुई के गले में फँस कर रह गई।

चुपचाप मौन खड़ा हेराल्ड पागल सा घूमकर चिल्ला उठा—"यू लुई, ट्रेटर! डोन्ट, डोन्ट, आई हेट यू।"

और वह डाक्टर के कमरे की ओर बढ़ गया। लुई अवाक् मरी सी खड़ी रही और दूसरे कमरे में खड़ा मैं भी देख रहा था, इस विचित्र हृदयवाले हेराल्ड को।

उसी शाम को हेराल्ड का खून लारेंस को चढ़ाया गया। डाक्टर ने हेराल्ड के लिए एक दूसरी खाट ठीक कराई पर वह किसी प्रकार भी अस्पताल में रहने पर राजी न हुआ। लुई के लिए अपना सब कुछ देकर भी वह उससे न जाने क्यों दूर

ही रहना चाहता था। मैं उसे घर ही ले आया पर वह इतना कमज़ोर हो गया था कि अपने से हिलना डुलना भी उसके लिए खतरनाक था। मैंने घर पर ही नर्स और डाक्टर का प्रबन्ध किया।

हेराल्ड चौबीसो घंटे खाट पर पड़ा न जाने क्या सोचा करता। वह बहुत कमजोर होकर चिड़चिड़ा हो गया था। लुई को वह कभी अपने सामने नहीं देखना चाहता था। चुप-चाप अकेले उसे अच्छा लगता, बस।

आठ दिनों में लारेंस अच्छा होकर घर आने योग्य हो गया था पर हेराल्ड की कमज़ोरी दूर न हुई। दो पौंड खून पूरा करना था न!

लारेंस और लुई घर आए। लारेंस को सुनकर ताज्जुब था कि गोली न मारकर हेराल्ड ने उसकी प्राण रक्षा क्यों की? पर इसका उत्तर कौन देता? घर आते ही लारेंस हेराल्ड के कमरे में गया। हेराल्ड खाट पर पड़ा था—चुपचाप, निश्चल! बिलकुल उसी तरह जैसे वह एक बार अनशन करके कमजोर होने पर पड़ा था। लारेंस भी पूर्णतया स्वस्थ तो था नहीं, कुर्सी पर बैठ गया और एकटक एक दूसरे को देखते रहे।

तभी लारेंस ने कुछ कहा। पर हेराल्ड ने कोई उत्तर न दिया, जैसे कुछ सुना ही न हो। वह एकटक लारेंस को धँसी आँखों से घूर रहा था। लारेंस घबड़ा गया। घबड़ाहट में कोई शब्द उसे न सूझा। झट कहा—"मि० हेराल्ड! यू... हैव सेव्ड माई लाईफ...।"

और हेराल्ड यह सुनते ही अपनी शक्ति भर गरज उठा—मानो यही वह नहीं सुनना चाहता था—"शट अप!"

लारेंस ने कुछ न समझा और उसने फिर दोहराया—"यू आर वेरी ग्रेट......।"

न जाने यह सुनते ही हेराल्ड के रक्तहीन शरीर में कहाँ से ताकत आ गई कि वह तड़ककर उछल पड़ा और अपने दोनों मांसहीन निर्बल पंजों से लारेंस का गला दबोच दिया। न जाने हेराल्ड को क्या होगया था। लारेंस भी पूरी तरह अच्छा नहीं हुआ था। उसके शरीर के घाव भी दुखे और वह चीखकर गिर पड़ा। नीचे वह और ऊपर हेराल्ड। दूर से देखते ही लुई चीख पड़ी। उसके हाथ से दवा की शीशी गिरकर चकनाचूर हो गई। वह दौड़ी। मैं भी भागा।

थर थर काँपती हुई लुई ने हेराल्ड की कमीज का कालर पकड़कर खींचा और फिर जोर से चीखी। इस बार उसकी चीख सुनते ही हेराल्ड के हाथ शिथिल पड़ गए। वह उल्टा गिर पड़ा और निस्तेज आँखों से लुई को घूरने लगा। क्षण भर बाद हेराल्ड ने एक लम्बी साँस छोड़ी और कहा—"सारी, लुई!" और शब्द पूरा करते करते कटे पेड़ सा वह लुढ़क गया।

मैंने खाट पर पड़ी चादर उसके शव पर डाल दी। अब लुई फूट फूट कर रो पड़ी।

......और अभी हेराल्ड को दफनाकर लौटा हूँ, पर उसकी स्मृतिशिला पर क्या लिखा जाय? हेराल्ड जिसे जानने, पहचानने, जिसके अन्तर के 'अथाह' तल में धीरे धीरे बहते हुए सिकता-कणों को छूने का प्रयास कर के भी मैं असफल रहा, उसका परिचय पत्थर पर की चन्द लकीरों में कैसे दूँ......?"

———

सम्बन्ध ०

लम्बी सी आह खींचकर आनन्द ने पत्र को तीसरी बार पढ़कर समाप्त किया। जलती हुई सिगरेट को, जो हाथ में ही सुलग रही थी, उसने मुँह में लगा लिया। और तभी न जाने उसे क्या हुआ कि व्यथित सा होकर आरामकुर्सी पर लेट गया। तीन बार वह पत्र पढ़ चुका। पर फिर भी उसे तृप्ति न हुई। रोज ही न जाने कितने पत्र उसके पास आते हैं—कुछ निजी, कुछ अपने काम से सम्बन्धित। पर किसी को पूरी तरह भी नहीं पढ़ पाता। और यह पत्र —इसे तो वह तीन बार समाप्त कर चुका।

पत्र नीलकंठ का है, उसके सहपाठी का। दोनों ने साथ ही साथ इन्टर की परीक्षा पास की है। विद्यार्थी जीवन में वह उसका प्रिय मित्र रहा है। यह पत्र आज पूरे चार साल बाद आया है।

चार वर्ष! अड़तालीस महीने!! दिनों की संख्या एक हजार से भी अधिक!!! ओह, कितना अरसा हो गया! इन चार सालों की सभी भूली-भटकी बातें, एक बार उभर कर याद आ गई।

यह चार साल का समय आनन्द ने तपस्या में बिताया था। दो साल वह काँग्रेस के नाम पर जेल में बन्द रहा और दो साल से वह 'तितली' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादक और कुशल लेखक है।

चार साल पहले के आनन्द में और आज के आनन्द में आकाश और पाताल का अन्तर है। चार साल पहले वह था केवल एक साधारण बी० ए० का विद्यार्थी और आज है लेखक और सम्पादक।

इन चार वर्षों में उसने बड़ा परिश्रम किया। बड़ी निर्दयता और कड़ाई से उसने अपने ऊपर शासन किया। ढील तो उसने कभी की ही नहीं। हर समय वह कठिन परिश्रम में डूबा रहता। जिसके फलस्वरूप उसे आज शान्ति, सम्पन्नता और सन्तोष सभी कुछ प्राप्त है। आय उसको अधिक नहीं है, पर काफी है। अब उसकी जीवन-नौका स्थिर जल में और शान्तिपूर्ण वातावरण में निश्चित गति से बढ़ रही है। लेकिन फिर भी उसे जब चार साल पहलेवाला वह तूफान, भयंकर तूफान याद आ जाता है तो हाथ आप ही आप काँप उठते है, चप्पा चप्पा हिल जाता है, नौका भी डगमगाने लगती है।

ऐसा था वह तूफान! यदि उस समय वह यह मार्ग न ग्रहण करता तो आज वह न जाने कहाँ और क्या होता। ऐसा था वह आघात।

चार साल पहले की वह घटना जीवन का एक अध्याय बन

कर रहेगी—दुखद पर चिरस्मरणीय अध्याय।

तब वह बी० ए० फर्स्ट इयर में था। विद्यार्थी जीवन के वे दिन! जवानी के खाली गृह का दरवाजा खोल उसने आँगन में पाँव रखा था। आँखों में सदा लालिमा छाई रहती; जिसके फलस्वरूप संसार की हर वस्तु उसे रंगीन दिखाई पड़ती। और संसार की इस लालिमा की छाप उसके अंग अंग पर पड़ चुकी थी।

एक दिय युनिवर्सिटी में उसे जो रंगीनी दिखाई पड़ी उसकी लालिमा अब तक की सभी रंगीनियों में चोखी थी। आँखें संसार की हर वस्तु से फिसलती-छटकती हुई कृष्णा पर अटक गईं। जीवन में उसे कुछ नवीनता का—प्रगति-का आभास मिला।

आनन्द को सब याद है। कृष्णा ही तो पहले उससे बोली थी। वह थी नए रंग-बिरंगे फूलों में पली एक तितली। पिता उसके बहुत बड़े धनी थे। यह बात भूलकर उसने आनन्द से मित्रता बढ़ाई, खूब बढ़ाई। एक दिन एकाएक दोनों ने देखा कि मित्रता बढ़ते बढ़ते अपनी सीमा लाँघ गई है। सीमा से आगे बढ़ने के इस अनुभव का दोनों ने स्वागत किया। यह मधुर अनुभूति बड़ी सुन्दर और सुखदाई लगी। उसी आवेश में आनन्द ने कृष्णा से कहा था—

"कृष्णा, ऐसा लगता है तुम...।"

"क्या कहा आप ने?"

"कुछ नहीं!"

"नहीं नहीं, कहिए!" कृष्णा ने हठ किया था।

कृष्णा को अपने पास खींचकर आनन्द ने कहा था, "कृष्णा!

तुम ध्यान से सुनो। मेरे कलेजे में कुछ खट्-खट् की आवाज हो रही है।"

"हाँ, हो रही है।" सुनकर कृष्णा ने कहा था।

"तो मैं समझता हूँ, यहाँ कोई सीढ़ी बनी है।"

"बनी होगी।"

"और तुम खट् खट् करती वह सीढ़ी उतर रही हो।"

कृष्णा ने इसका कुछ उत्तर न दिया।

"यह भी कहो, हाँ, कृष्णा, कहो, कहो।"

"हाँ……।" कृष्णा ने फिर कहा था।

"और वह सीढी बड़ी गहराई तक है।"

"पर हम शीघ्र ही वह गहराई भी छू लेंगे।"

आनन्द को लगा मानो किसी ने उसे एकदम गेंद सा ऊपर फेंक दिया हो और बादलों को भी पारकर वह शीघ्र ही आकाश को छू लेगा। वह पृथ्वी का मानव !

फिर दिन बीतते गए। गरमी की छुट्टी आई। दो महीने के लिए वह बाहर गया—इलाहाबाद छोड़ कर। लौटा तो उसे संसार की रंगीनी फीकी लगने लगी। उसने सुना—कृष्णा का विवाह तय हुआ है, विलायत से लौटे किसी इन्जीनियर से।

सिर पर पहाड़ टूटा। मन में चोट पहुँची। आखिर जाकर कृष्णा से पूछा—

"क्या यह सच है ?"

"हाँ।" सरल सा उत्तर था।

आनन्द को दुःख पहुँचा, आगे वह चाहकर भी कुछ पूछ न सका।

कृष्णा ने स्वयं कहा—"मुझे दुःख है। पर पिता जी ने यह सब किया, मैं निर्दोष हूँ। मैं विवश थी। मुझे खेद है।"

क्या करता आनन्द अब कृष्णा के इस दुःख, विवशता और खेद को लेकर ? अपने भीतर, बाहर, आगे, पीछे, चारों ओर उसने पाया केवल अंधकारमय सूनापन। संसार की रंगीनी कालिमा में बदली मिली। पढ़ना-लिखना भूल गया। बस व्यथा की खाट बिछाए, विकलता का तकिया लगाए, ग्लानि की चादर लपेटे वह एकान्त में पड़ा रहा।

एकमात्र मित्र नीलकंठ ने दुःखी होकर कहा था—

"आनन्द! तुम मूर्ख हो, कमजोर हो। किसी योग्य नहीं हो। जानते हो यह जीवन संघर्षमय है। क्रम चालू रखने के लिए संघर्षमय परिस्थितियों का पैदा होना आवश्यक ही है। पर उस समय हम खूब डटकर उस संघर्ष का सामना करेंगे। ये संघर्षमय परिस्थितियाँ आती हैं जब हमारे जीवन का क्रम पूर्णतया अस्त-व्यस्त हो जाता है, मन में ऐसी भावनाएँ उठती हैं जो यदि दो क्षण भी टिकी रह जाँय तो जीवन नष्ट हो जाय। अगर कृष्णा के लिए तुम ऐसी भावनाओं को टिकाकर जीवन नष्ट करते हो तो जान लो कि जीवन के प्रति तुम विश्वासघात करते हो। जीवन तो संसार की एक धरोहर है, जिसे सम्हालकर रखना तुम्हारा कर्तव्य है।"

आनन्द को जैसे किसी ने भरी नींद से झकझोरकर जगा दिया। वह कुछ कह न सका। उसके होश उड़ गए। उसके दिमाग में विचारधारा का नया स्रोत बहा, "जीवन रूपी धरोहर की मुझे रक्षा करनी है। व्यर्थ की बातों पर हाय हाय कर के मैं जीवन नष्ट न करूँगा। मुझमें स्वाभिमान होना चाहिए।"

अपने आप पर उसे घृणा उपजी। हृदय में उसने संकल्प किया।

तभी देश में आन्दोलन छिड़ा—सरकार के विरुद्ध सत्या-

ग्रह। नवयुवक कार्यकर्ताओं की आवश्यकता पड़ी। आनन्द बी० ए० का मोह छोड़ सत्याग्रह में कूद पड़ा। कुछ दिन इधर उधर प्रचार-कार्य किया। फिर एक दिन शाम को पुलिस ने उसे पकड़कर बन्दी बना दिया।

उसे दो साल की सजा भुगतनी पड़ी। जेल जीवन में उसे नीलकंठ की कोई खबर न मिली। बाहर आने पर भी कुछ पता न चला। वहीं जेल में उसने लिखना शुरू किया—कविता और कहानियाँ। आनन्द में अच्छी प्रतिभा थी जो अब तक दबी थी। अनुकूल वातावरण पाकर वह जगमगा उठी। जेल से बाहर आते ही वह मासिक 'तितली' का सम्पादक हो गया। इधर दो साल से अब तक वह उसी पद पर है।

यह है उसका पिछले चार वर्षों का भूला सा इतिहास, जो आज नीलकंठ का पत्र पाकर फिर ताजी घटना का रूप धारण कर उठा।

आनन्द बार बार पत्र पढ़ रहा था। सिगरेट अब तक समाप्त हो चुकी थी। उसने दूसरी जलाई।

नीलकंठ ने लिखा था—

"तुम्हें देखने को दिल चाह रहा है। 'तितली' के सफल सम्पादन के लिए किस तरह बधाई दूँ। तुम्हारी भाभी भी तुम्हारे दर्शन के लिए परेशान है। तुम्हारी '——'नामक नई रचना से वह तुम्हारी भक्त बन गई है।"

रात को आनन्द ने उत्तर लिखा, "चार साल से सूखे इस पौधे में नई कोपलें फूटीं। तुम्हारा पता मिल गया है, अब अवश्य आऊँगा। पर कब, यह न पूछो। अखबार का काम जो ठहरा। लेकिन आऊँगा, अवश्य आऊँगा—समय मिलने पर। भाभी को नमस्कार कहना।"

तीस म्हें छुट्टी कभी न मिलेगी। सम्पादक जा ठहर। इन्तजारा अब नहीं की जायगी। तार द्वारा सूचना दो, किस गाड़ी की राह देखूँ।"

आनन्द से इसका कोई उत्तर देते न बना। नीलकंठ से मिलने कलकत्ते उसे जाना ही पड़ा।

वेग से दौड़ती बम्बई मेल जब हबड़ा स्टेशन पर रुकी तो आनन्द ने नीलकंठ को वहाँ खड़ा पाया। चार साल से बिछुड़े साथी एक दूसरे से मिले। बाहर नीलकंठ की कार खड़ी थी। शीघ्र ही आनन्द उसके घर पहुँचा।

नीलकंठ ने पुकारकर कहा, "सुनती हो? बाहर तो आओ! आनन्द आया है।"

सिर का पल्ला ठीक करती वह बाहर आई–सुन्दर सी वह नारी। वह नीलकंठ की पत्नी थी। आनन्द ने नमस्कार किया। दोनों सुन्दर हाथ जोड़कर उसने उत्तर दिया और पास की कुर्सी खिसकाकर बैठ गई।

नीलकंठ ने कहा, "आनन्द, इतने दिन बाद तुम्हें पाकर बड़ी खुशी हुई। पर यार तुम तो बिलकुल वैसे ही हो, पहले जैसे। कुछ भी तो नहीं बदले!"

"मैं भी तुम्हारे लिए यही कहने जा रहा था।" आनन्द ने कहा।

"अच्छा, श्रीमतीजी और बालबच्चे कहाँ हैं?"

"क्या? कौन श्रीमती? मेरी?"

"हाँ, हाँ।"

आनन्द को हँसी आ गई।

"क्यों क्या बात है?"

"मेरा ब्याह कहाँ हुआ भाई!"

"क्यों ?"

"किसी ने किया ही नहीं।"

"किया नहीं ?"

"नहीं तो हो ही न जाता।"

फिर दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। आनन्द की भाभी भी इन दोनों की बातों पर हँसी।

तभी भीतर से किसी स्त्री ने पुकारा—

"भइया, चाय लाऊँ ?"

"हाँ, हाँ !" पुकारकर नीलकंठ ने उत्तर दिया और आनन्द की ओर घूमकर कहा—"कहो आनन्द, तुम्हें बिन्नी की याद है ?"

"बिन्नी ? कौन बिन्नी ?" याद करने लगा आनन्द।

"मेरी छोटी बहन !"

"हाँ, हाँ। याद है, अच्छी तरह याद है। कहाँ है वह ?"

"वह देखो।" नीलकंठ ने उँगली उठाई।

आनन्द ने घूमकर देखा। परदा खिसकाकर हाथ में चाय की ट्रे लिए बिन्नी कमरे में प्रवेश कर रही थी। आनन्द ने गौर से देखा। बिन्नी ने भी पहचाना। भाभी ने बढ़कर ट्रे अपने हाथ में ले लिया। फिर बिन्नी साड़ी के कोने को हाथ में लपेटती हुई आकर मेज के पास अपने भैया से सटकर खड़ी हो गई।

भैया ने कहा—"पहचाना बिन्नी इन्हें ?"

बिन्नी ने "हाँ।" कहते हुए सिर हिलाया।

भैया ने पुनः कहा—"याद है आनन्द, जब बिन्नी छोटी थी तब तुम रोज इसके लिए एक पुड़िया में लेमनचूस लाया करते थे और इसी लालच में यह दरवाजे पर खड़ी घंटों तुम्हारी

राह देखा करती थी। क्यों आनन्द ?"

"हाँ, याद है।" आनन्द ने कहा।

"क्यों बिन्नो ?" भैया ने पूछा।

शर्म से वह लाल हो गई। उत्तर देते न बना। भाभी ने कटाक्ष किया। "देखो तो बीबी कितना शर्माती है। लाओ न आनन्द बाबू, कोई पुड़िया लाए हो ?"

बिन्नी से अब न रुका गया। वह भीतर भाग गई।

आनन्द को यह बड़ा अच्छा लगा।

आनन्द को आए तीन दिन हो गए। एक बार बातों के ही सिलसिले में उसने कहा—"नीलकंठ! मेरे बढ़ने में तुम्हारा बड़ा हाथ रहा है।"

"हमारा हाथ रहा, कैसे ?"

"याद नहीं है तुम्हें ? तुम्हीं ने तो डाँटकर मेरे हृदय में वह अमर ज्योति जलाई थी, तुमने कहा था—"जीवन एक धरोहर है। उसे नष्ट कर के समाज के प्रति विश्वासघात न करो।"

"हाँ, याद है। पर क्षमा करो भाई। मेरा डाँटने का अभिप्राय कभी न था।"

"कुछ भी हो, मुझे तो तुमने बना दिया।"

"तो खुशी है कि मेरे साधारण शब्दों ने तुम पर इतना प्रभाव डाला।"

"बड़ी अच्छी सलाह दी थी भाई तुमने।"

फिर कुछ क्षण चुप्पी रही।

"एक बात और मानोगे ?" नीलकंठ ने पूछा।

"क्या ?"

"यही कि जीवन को सफल बनाओ।"

"सफल ! किस प्रकार ?"

"शादी कर लो।"

"शादी ! अपनी ?"

"हाँ।"

हँस पड़ा आनन्द ।

नीलकंठ ने पुनः कहा—"मेरा तो अनुभव है कि ब्याह किए बिना जीवन में पूर्णता नहीं आती । एक महत्वपूर्ण अंग सूना रह जाता है।"

इस पर आनन्द गम्भीर हो गया। इस बार नीलकंठ ने चार साल पहले की तरह पुनः उसके हृदय का घाव दुखा दिया था। दर्द से वह चीख उठा। कृष्णा...... ! विवाह ! कृष्णा ! बार बार उसे यही याद आने लगा ।

कुछ देर के लिए फिर सन्नाटा छा गया ।

"हाँ, आनन्द कुछ मेरी भी सहायता करो भाई ।" नीलकंठ ने मौन भंग करते हुए कहा ।

"सहायता ! अगर जीवन भर सेवा करूँ तो भी तुम्हारे ऋण से उऋण न होऊँगा । "

"अरे सुनो भी। देखो, बिन्नी सयानी हो गई है। मैं चाहता हूँ कि अब उसकी शादी कर दूँ। लड़का कोई पसन्द का मिल नहीं रहा है। अगर तुम्हारी नजर में कोई हो तो बताओ।"

न जाने क्यों इस बात से आनन्द में विकलता जाग उठी। हृदय में तेजी से धक् धक् होने लगा ।

"अच्छा ! ध्यान में रखूँगा। कोई मिलेगा तो सूचना दूँगा।"

"खोज करना भाई ।"

"अवश्य !"

आधी रात भी समाप्त हो चुकी थी। रह रह कर आनन्द खाट पर पड़ा चौंक पड़ता था। उसे लगता मानो बार बार वही, परदा हटा कर, वही बिन्नी हाथ में ट्रे लिए कमरे में आ रही है ...। भाभी पूछती है–कोई पुड़िया है? शर्माकर वह भागी जा रही है। यह बिन्नी......बिन्नी! कितनी सुन्दर है यह। आह, यह बिन्नी और चार साल पहले की वह कृष्णा! मिठाई में जहर घोलनेवाली कृष्णा! नागिन कृष्णा! कृष्णा और बिन्नी की तुलना ही ठीक नहीं। एकाएक उसके दिल में किसी ने पूछा—"आनन्द! अगर तुम्हारी शादी बिन्नी से हो जाय तो......?"

विकल हो आनन्द ने तकिये में मुँह छिपा लिया।

और उसी काली रात्रि में बिन्नी भी सोच रही थी—आनन्द बाबू अब भी अविवाहित हैं। भाई साहब शादी करने की सलाह दे रहे थे। ठीक सलाह थी। उन्हें शादी करनी ही चाहिए। उनकी वह किताब'——' मैंने पढ़ी है। कितनी अच्छी है। काश......।

आगे वह न सोच सकी। हैरान थी, अपने आप पर वह बिन्नी।

दिन में ड्राइंग रूम में पड़ा आनन्द सोच रहा था—चार साल पहले कृष्णा की ओर से छले जाने पर उसने निश्चय किया था कि वह कभी किसी स्त्री से मित्रता न करेगा। पर आज यह बिन्नी क्यों उसके संकल्पों की नींव हिला रही है। यह नई नारी क्यों उसे हैरान कर रही है। अच्छा होता वह कलकत्ते न आता। पर नीलकंठ का निमन्त्रण वह कैसे अस्वीकार करता!

व्यथित हो वह बाग में आ गया। देखा, उस साया के

नीचे बिन्नी बैठी है। आगे बहुत से खिले, अधखिले फूल पड़े हैं और वह माला गूँथ रही है। कनखियों से उसने आनन्द का आना देखा और माला छिपा ली। बात बदलने को कहा—
"भाई साहब कह गए हैं आप कहीं घूमने जाना चाहें तो जाइएगा। कार वे छोड़ गए हैं।" कहते हुए उसकी जीभ जमी जा रही थी और चेहरा बिलकुल लाल था।

"इस विशाल नगरी में अकेला कहाँ जाऊँ? अगर तुम चलो तो मैं चल सकता हूँ।"

अनायास ही वह यह सब कह गया

क्षण भर बाद वह बोली "अच्छा! पर किधर चलिएगा?"

"जिधर तुम चाहो।"

"चलिए, चिड़ियाखाना देख आइए।"

दोनों कार से चिड़ियाखाने आए। उस चिड़ियाखाने, जहाँ देश-विदेश के जीव-जन्तु बन्द थे। आनन्द सब को अजनबी सा निहार रहा था और बिन्नी उन्हें बीच बीच में सब समझा रही थी।

एक पिंजड़े में बन्दरों का जोड़ा बन्द था। देखकर आनन्द को दया उमड़ी। बन्दर उसे बड़ी करुण दृष्टि से ताक रहा था। आनन्द ने कहा—

"यह बन्दर! सदा से जंगलों में आजाद घूमनेवाला यहाँ कैसे रह पाता होगा?"

बीच ही में एकाएक बिन्नी बोल उठी।

"दो तो हैं, अकेला होता तो शायद न रह पाता।"

आनन्द ने सुना। न जाने कैसा लगा। घूमकर उसने बिन्नी को निहारा।

बिन्नी को भी अपने कहे पर आश्चर्य हुआ। फिर दोनों

का वहाँ मन न लगा। दोनों के दिल में चोर घर कर चुका था। दोनों घर लौट आए।

आधी रात को एकाएक आनन्द की नींद खुली। कमरे में एक सुगन्ध हो रही थी। उसने देखा, उसके सिरहाने गुलाब का वह हार रखा था जिसे दोपहर को बिन्नो बना रही थी। आवेश में आ उसे उठाकर आनन्द ने कलेजे से चिपटा लिया। शरीर में बिजली दौड़ गई।

सुबह होते ही आनन्द ने नीलकंठ से कहा—"भाई आज्ञा दो अब चलूँ!"

"इतनी जल्दी क्यों?"

"बस आज जाऊँगा, बड़ा हर्ज हो रहा है।"

"तो नहीं ही रुकोगे?"

"फिर कभी आ जाऊँगा।"

"अच्छी बात है। मेरी बातें याद रखना-बिन्नी के लिए वर की खोज करना और शादी का शीघ्र ही निमन्त्रण देना!"

"अच्छा!" केवल यही कह सका आनन्द।

चलने लगा तो बिन्नो ने कहा—"आप जा रहे हैं!"

"हाँ, आज जा रहा हूँ।"

"इतनी जल्दी क्या थी!"

"यहाँ मेरा रहना असम्भव है अब!"

"क्यों हमने बड़ी तकलीफ दी न!"

इसका भला आनन्द क्या उत्तर देता।

"फिर कब आइएगा?"

"जब तुम चाहोगी।" उसके मुँह से निकल गया। फिर वह बिना रुके ही वहाँ से चल दिया।

× × ×

प्रयाग लौट आया आनन्द। पर अब वह बिलकुल बदला हुआ था। मन उसका सदा उचटा रहता था। बिन्नी के पत्र उसके पास सदा ही आते पर वह किसी किसी का ही उत्तर दे पाता।

एक दिन उसे नीलकंठ का पत्र मिला—

"बिन्नी के लिए कोई लड़का मिला हो तो लिखो। आज कल वह बड़ी उदास रहती है। शादी अब आवश्यक हो गई है। अगर बिन्नी की यही दशा रही तो वह बीमार हो जायगी।"

आनन्द के हृदय में धक्का लगा। दूसरे ही दिन बिन्नी का एक छोटा सा पत्र मिला—

"—आपका पत्र भैया के हाथ में पड़ गया है। न जाने अब क्या होगा। मैं कैसे मुँह दिखाऊँगी।—"

आनन्द के पाँव तले की पृथ्वी खिसक गई। नीलकंठ उसे कितना बुरा समझेगा!

दूसरे ही दिन उसे नीलकंठ का पत्र भी मिला—

"आनन्द बाबू!

तुमसे मुझे ऐसी आशा न थी। तुम मेरे घर के चोर निकले, बिलकुल डाकू। तुमने यह सब मुझसे पहले ही क्यों न बताया। मैं बिन्नी का सम्बन्ध करने को तैयार हूँ। मेरे सिर का बोझ हलका किया तुमने, सदा याद रहेगा। पहली ही ट्रेन से चले आओ। आशा है सानन्द होगे।

तुम्हारा—
नीलकंठ"

———

बड़प्पन

८

बहुत थोड़ा वेतन पानेवाला वह केवल एक क्लर्क है, परन्तु बड़े साहब से लेकर सामने टाइप की मशीन पर प्रति दिन आठ घंटे अपनी पतली पतली उँगलियाँ पटकनेवाली यह मेम, मिस केंट और दरवाजे के पीछे सदा साहब की घंटी की ओर कान लगाए बैठा खोभू चपरासी तक, सभी यही समझते हैं कि सारे कामों की जिम्मेदारी उसी पर है।

इस बिजलीघर का वह एक साधारण सा इंस्पेक्टर है। बिजलीघर से ही मिली एक साइकिल पर वह पिछले चार साल से जाड़ा, गरमी, बरसात, सभी ऋतु, सभी दिनों में बिजली की शिकायतों की जाँच करता घूमा करता है। इसी वर्ष न जाने क्यों बड़े साहब ने कृपा करके उस साइकिल से उसका पिंड छुड़ा दिया है और एक पद की तरक्की देकर उसकी ड्यूटी दफ्तर में ही लगा दी है। लेकिन है वह शिकायतें सुननेवाला बाबू ही। पहले वह साइकिल पर सवार शिकायती पत्रों की

फाइल लिए घर घर जाँच करता घूमता था, परन्तु अब विभाग का हेड बनकर डटकर अपनी मेज़ पर काम करता है और अपने सहयोगियों को जाँच के लिए भेजता है। टेलीफोन का चोंगा लिए बड़े बड़े दफ्तरों और बड़े आदमियों के यहाँ फेल हुई बिजली की बातें सुनकर मिस्त्री भेजने का प्रबन्ध करता है।

अभी अभी किसी पत्र को गौर से पढ़कर उस पर क्या कार्रवाई की जाय यही वह सोच रहा था कि मिस कैंट के टाइपराइटर की खामोसी से उसका ध्यान टूट गया। दफ्तर के बाबू का भी क्या जीवन है। वहाँ की चहल-पहल और शोर से वह इतना अभ्यस्त हो जाता है कि शोर रहे तब तो मन लगता है, नहीं तो कुछ खोया सा, सूना सा लगने लगता है। सो जब मिस कैंट की मशीन चुप हो गई तो लगा कि कार्यालय का एक अंग शिथिल होगया है।

सिर उठाकर उसने उसकी ओर देखा, कुछ कहा तो नहीं पर आँखें मानो पूछ ही तो बैठीं—"क्यों, क्या बात है?"

"क्यों मिस्टर वर्मा, टी लोगे, टी?"

वर्मा इनकार न कर सका। मुँह से हाँ भी न कह सका पर सिर ने एक बार हिलकर स्वीकृति की सूचना दे दी।

मिस कैंट ने झट घंटी टुनटुना दी और भीखू आ गया। उससे आज्ञा के भाव में 'दो कप चा' कहकर मिस कैंट वर्मा की ओर देखने लगी। वर्मा फिर पत्र पढ़ने लगा था। मिस कैंट सोचने लगी, यह भी कैसा आदमी है। सारे दफ्तर का भार अपने ऊपर ओढ़ लेने को जैसे सदा उत्सुक रहता है। इसी लिए तो मैनेजर मानता भी खूब है। अगर उसे छुट्टी मिले तो शायद वह मेरी भी दो-तीन चिट्ठियाँ टाइप करने में न चूके।

कहते हैं काम प्यारा होता है, चाम नहीं। सो इसने इसे सच कर दिखाया है।

और वर्मा ने जो सिर झुकाया तो इस बार चिट्ठी पर आँखें गड़ाकर भी वह कुछ न पढ़ सका। टाइप की हुई चिट्ठी के गोल गोल अक्षर जैसे उसकी आँखों में समाकर उलझ से गए। उसकी प्रत्येक लाइन उसे कागज से उखड़ी सी लगी। उसे लगा कि उसका जीवन भी तो इसी तरह अस्तव्यस्त और उखड़ा रहा है। उसका हृष्ट-पुष्ट शरीर, गोरा-चिट्टा रंग, रूखे-बिखरे लम्बे बाल। आँखें सुन्दर अक्षरों की लाइनों पर जमी थीं, पर ध्यान न जाने कहाँ क्या पढ़ रहा था—ऊबड़-खाबड़ जीवन की अव्यवस्थित घटनाएँ। अपने वर्तमान से उसे सन्तोष नहीं। परन्तु जो है उसे वह असत्य भी नहीं ठहरा पाता।

तभी मिस केंट ने फीकी हँसी के बीच कहा—"कहो मि० वर्मा, कहाँ हो? चाय ठंढी हो रही है।"

चौंककर उसने देखा, टेबिल पर धरा प्याला भी अपनी भाफ उड़ाकर ठंढा हो रहा था। उसने प्याला अपनी ओर खींच लिया। मिस केंट न जाने क्यों जब खुद थक जाती है तो उसे ही तंग करती है। फिर बिना मतलब कोई न कोई बहाना ढूँढ़ कर हँसती रहती है। उसकी ओर देखकर अधरों पर एक सूखी हँसी हँसकर वह चाय पीने लगा।

थोड़ी देर बाद अपनी चाय समाप्तकर मिस केंट उठी और आ कर वर्मा की मेज से लगकर खड़ी हो गई। फिर पूछा—"क्यों वर्मा, आज कुछ डिस्टर्बड् हो?"

"नहीं तो!" वैसे ही उसने उत्तर दे दिया।

"तुम्हारे यहाँ से कोई लेटर आया? तुम कहते थे न कि तुम किसी अच्छी खबर का इन्तजार कर रहे हो।"

"हाँ, मेरा बाप बीमार है।" कड़ुवाहट में भरकर उसने उत्तर दे दिया।

"यह तो तुम उसी दिन कह रहे थे।"

"हाँ, आगे कुछ नहीं है अभी।" कहकर वह अपने अतीत जीवन में उलझ गया।

जीवन में उसे जो कहीं सफलता नहीं मिली उसका कारण है उसके पिता द्वारा मिला तिरस्कार। इसी से तो वह अपना घर छोड़कर यहाँ चला आया था और तब से इसी बिजलीघर में काम कर रहा है। उसे अक्सर लगता था कि इस प्रकार के अभावपूर्ण जीवन में रहने से अच्छा है कि वह लौट जाय और पिता से क्षमा माँग ले। परन्तु यह सोचते ही उसे अपनी स्वर्गीया माँ का चेहरा याद आ जाता। किस प्रकार वह बीमार पड़ी थी, किस प्रकार पिता ने उसका हर तरह इलाज किया परन्तु अच्छे लक्षण न देख शहर के अस्पताल में लाना पड़ा। अस्पताल आते ही जैसे उसे माँ से अलग कर दिया गया। जिस खाट पर माँ पड़ी रहती थी उसके निकट उसे फटकने भी नहीं दिया जाता था। अपनी माँ को वह पराए की तरह दूर से ही देख देख कर रह जाता था। पर उसे क्या मालूम था कि उसकी माँ यहाँ अच्छी होने नहीं आई। मृत्यु के समय भी उसे माँ से दूर ही रखा गया। पर उसे वह घटना याद है जब माँ ने कहा था—"मेरे बेटे को तकलीफ न हो।" और पिता ने कहा था—"तुम विश्वास रखो, मैं दूसरा ब्याह नहीं करूँगा।"

पिता की आँखों में उसने एक दृढ़ निश्चय की चमक देखी थी। उस समय चाहे वह इसका अर्थ न समझ पाया हो पर आज वह इसे पूरी तरह समझ रहा है।

हर वस्तु के खड़े होने का एक सहारा होता है, एक दीवाल

होती है। वह दीवाल जितनी मजबूत होगी, उतनी ही दृढ़ता आएगी। परन्तु यदि दीवाल ही कमजोर हो तो सहारा कब तक बना रह पाएगा।

एक दिन उसने सुना कि पिता फिर ब्याह करना चाहते हैं। उसने हिम्मत करके पूछा तो डाँटकर पिता ने कहा था—"तुझे इससे क्या मतलब ? मैं अपने बारे में जो समझूँगा, करूँगा।"

विवाह की बात सच निकलते ही शादी की तैयारी के बीच ही वह भाग आया और तब से इसी बिजली के फेल होने के चक्कर में जीवन काट रहा है।

तभी टेलीफोन की घंटी बजी। उसने चोंगा उठा लिया पर कुछ सुनाई न पड़ा। दो मिनट तक वह 'हलो, हलो' करता रहा पर कुछ उत्तर न मिला। अन्त में उसने चोंगा रख दिया। तभी घड़ी में पाँच बजे। आफिस समाप्त हो गया। वह उठा, कुर्सी पर पड़े कोट को कन्धे पर डाल लिया और चल पड़ा। सीढ़ी उतर चुका तो पीछे से आती मिस केंट ने पुकारकर कहा—"वर्मा, मैं भी चलती हूँ। पार्क तक साथ रहेगा।"

दोनों साथ साथ चलने लगे। बिजली घर के बाहर बाबुओं और मजदूरों का अजीब कोलाहल हो रहा था। वे जल्दी ही उससे दूर हो सड़क के किनारे किनारे अपने घर की ओर चल पड़े। जहाँ एक बँगले के एक कमरे में वर्मा रहता है, वहीं आगे के पार्क के बाद मिस केंट भी अपनी बूढ़ी माँ के साथ रहती है—वर्मा से काफी घुली-मिली। इस अनजान शहर में इस तरुणी के सामीप्य से उसे भी कभी कभी बड़ी खुशी होती है। अक्सर खाना खा चुकने के बाद जब वह शाम को मिल जाती तो दोनों वहीं पार्क में घंटों बैठे न जाने कहाँ कहाँ की बातें किया करते। सुख-दुख की भी बातें होतीं।

एक दिन वर्मा ने इसी भावना में कह भी दिया था कि वह अपनी जिद् के कारण ही यहाँ पड़ा था। यों तो अपने गाँव का आधे का मालिक था। परन्तु जब तक उसके पिता हैं, वह वहाँ जाना नहीं चाहता। वे आजकल बहुत बीमार हैं। अगर वे मर गए तो उसे जाना ही पड़ेगा।

"नहीं नहीं, ऐसा मत कहो। तुम्हें जाना न होगा। नहीं तो...।" मिस कैंट इतना कहकर न जाने क्यों रुक गई थी।

फिर वर्मा भी कुछ नहीं कह सका था। तभी उस गली की मोड़ पर एक ताँगे के अचानक आ जाने से जब उसने कैंट का हाथ पकड़कर खींच लिया था तो न जाने क्यों उसके शरीर में एक बिजली सी दौड़ गई। इसका उसे अनुभव था। बिजली का करेंट भी इसी तरह शरीर को झकझोर देता है। सड़क की बिजली की रोशनी में उसने जब कैंट को देखा तो उसका चेहरा लाल था और न जाने क्यों माथे पर पसीना हो आया था—इससे उसका सुन्दर मुँह जैसे खिलकर उसे नवीन सा लगने लगा था। फिर उस दिन रास्ते भर वह उससे बचता रहा। कहीं फिर न बिजली छू जाय।

आज चलते चलते मिस कैंट ने कहा—"क्यों वर्मा, तुम शादी क्यों नहीं कर लेते?"

"शादी? अपना तो चलता नहीं, शादी किस बूते पर करूँ।" कहने को वह कह तो गया पर पीछे ऐसा लगा मानो कैंट के इस वाक्य का कुछ अपना महत्त्व है। लेकिन कुछ समझकर भी इस बात को आगे बढ़ाने की उसकी हिम्मत न हुई।

उस शाम पार्क में जब दोनों बैठे थे, तभी मिस कैंट ने फिर कहा—"मेरी माँ की तबीअत ठीक नहीं चलती।"

"क्यों?"

"उसका हृदय-कष्ट बढ़ गया है।"

"तो किसी डाक्टर को दिखाएँ?"

"वह अब कितना चलेगी, बहुत बूढ़ी है।"

वर्मा को सुनकर एक झटका लगा। वह समझता था कि वह अकेला अपने पिता की मृत्यु की सूचना का इन्तजार कर रहा है, पर यह केंट भी अपनी माँ की मृत्यु की कामना करती है। उसने चौंककर उसे देखा। आज वह फिर उसी तरह उसे देख रही थी, एकटक, अपलक! वर्मा को लगा कि इस बार शायद बिना छुए ही बिजली का करेंट लग जायगा।

उस दिन शीत कुछ अधिक था। शायद इसी कारण इतनी देर बैठने से उसे कुछ जाड़ा सा लगा। वह चुपचाप उठा और अपने कमरे में आकर रजाई ओढ़कर पड़ गया। फिर कब उसे नींद आई, पता नहीं।

सबेरे आँख खुली तो पाया कि बुखार की तेजी से उसका शरीर जल रहा है।

तीन दिन यों ही रहा। चौथे दिन मिस केंट ने आफिस से छुट्टी ले ली। छुट्टी ली तो एक साथिन टाइपिस्ट ने व्यंग्य किया—"वर्मा को नर्स करोगी, क्या उससे शादी करके उसकी जमीदारी की मालकिन होना चाहती हो?"

"चुप!" डाँट दिया उसने।

पर सच ही तो है। वर्मा भी तो कितना मना करता रहा पर वह न मानी और उसकी सेवा में लगी ही रही। जब वर्मा ने कहा कि अस्पताल चला जाऊँ, तो उसने कहा कि वहाँ भला कौन तुम्हारी देख-रेख करेगा—यहीं रहो।

वर्मा कुछ समझ न पा रहा था—केंट क्यों उसकी इतनी परवाह करती है। उसमें कितना अपनत्व है। जब बुखार

कम होता तो वह देखता, कैंट को निहारता, ओह! यह सब क्यों करती है।

कैंट वर्मा की मनोदशा समझती थी। वह केवल मुसकरा देती। उसके ओठ इस प्रकार हिलकर शान्त हो जाते जैसे वह पूछरही हो—क्या मनुष्य मनुष्य के साथ केवल स्वार्थ के लिए ही कुछ करता है।

वर्मा की तबीअत सुधर नहीं रही थी। इधर उसे 'फिट' से आने लगे हैं। रहता रहता है, वह बड़बड़ाने लगता है। अपने ऊपर का कपड़ा फेंक देता है। उठकर भागने की कोशिश करता है। कैंट चिन्ता में पीली हुई जा रही थी। वह शहर के अच्छे डाक्टर का इलाज करा रही थी। वर्मा की स्थिति काफी गड़बड़ हो गई थी, कुछ सुधार नहीं था। उसके पास का सारा पैसा डाक्टर और दवा में खर्च हो चुका था। उसे इतना होश कहाँ था कि वह पैसे-रुपए की चिन्ता कर पाता। अब तो सारा का सारा खर्च कैंट की तनख्वाह पर चल रहा था।

समय की बात थी। इतने बड़े गाँव के मालिक का बेटा, इकलौता बेटा, यों पराए जन के आसरे में बीमार पड़ा था। कभी कभी होश होने पर वर्मा सोचता—पता नहीं आफिस का काम कैसे चलता होगा। कैंट भी नहीं जाती है। बिजली के फेल होने की शिकायतें आती होंगी।

पर कौन समझावे उसे कि किसी के होने न होने से संसार का काम नहीं रुकता। इस संसार में किसी एक इकाई का कोई अस्तित्व नहीं। उसका जीवन भी तो बिजली का एक लट्टू है, जो न जाने कब फेल हो जाय!

शाम को डाक्टर के यहाँ से लौटकर कैंट ने देखा कि

उसकी हालत अच्छी नहीं। विचारों की उधेड़-बुन में वह कुछ भी समझ न पाई। उसे डाक्टर भट्टाचार्य की याद आई। सुना है वह सब से महँगा और कुशल डाक्टर है। सोचा एक बार उन्हें ही बुलवाया जाय।

वह इस डाक्टर को लेकर आई तो उसका जी धक् धक् कर रहा था। डाक्टर वर्मा की परीक्षा कर रहा था और वह सिरहाने खड़ी थी, सहमी सी। जब डाक्टर बाहर आए तो कैंट ने पूछा—"अच्छे तो हो जायँगे डाक्टर साहब ?"

"हाँ, इन्हें सन्निपात हो गया है। दशा बिगड़ चुकी है। परन्तु सुई लगवाओ। क्या लगवा सकोगी ?"

"अवश्य !"

"छै रुपया प्रति सुई दाम पड़ेगा। रात भर में छै सुई लगेंगी।"

"आप नाम लिख दीजिए, मैं बाजार से ले आऊँ।"

डाक्टर ने सुई का नाम लिख दिया और दो घंटे बाद फिर आने को कहा। कैंट सुई खरीद लाई। जब बाजार से लौटी तो उसके गले में सोना का लाकेट नहीं था, बस।

दो सुइयाँ लगने के बाद वह कुछ स्वस्थ हुआ। उसने कहा—"तुम बहुत कष्ट उठा रही हो।"

कैंट की आँखें गीली हो गईं। मानो कह रही हों—"तुम्हारे लिए कष्ट उठाना भी अच्छा लगता है।"

"अरे तुम्हारा लाकेट कहाँ है ?" चौंककर वर्मा ने पूछा।

"घर में रख आई हूँ।" वैसे ही कैंट ने कह दिया पर वर्मा को विश्वास न हुआ।

परन्तु बात यहीं रुक गई।

क्षण भर की चुप्पी के बाद एकाएक अपने निर्बल हाथ बढ़ा-

कर वर्मा ने कैंट को अपनी ओर खींचकर कहा—"मेरे एकाकी जीवन में तुम बिजली बन गई हो। कहीं फेल न हो जाना। यहाँ तुमने जितना प्रेम मुझे दिया वह अँधेरे घर के प्रकाश से भी अधिक है। यदि मेरे भी दिन फिरे तो मैं अब...अवश्य...।" फिर वह रुक गया।

"क्या...क्या अवश्य ?" कैंट ने पूछा।

"अच्छा होकर मैं शादी कर लूँगा—तुमसे !" कहकर वर्मा ने कैंट को अपने बदन पर गिरा लिया। अपने निर्बल हाथों द्वारा शक्ति भर दबाया और जैसे किसी स्वप्न में डूब गया।

अच्छा होकर अब वह बिजलीघर छोड़ देगा। अपनी जायदाद का आधा हिस्सा अवश्य ले लेगा और कैंट से शादी करके उसे वहाँ लिवा जायगा। वहाँ एक छोटा सा बँगला बनवायगा—वहाँ वह बिजलीघर का बाबू नहीं रहेगा, वह भी टाइपिस्ट नहीं रहेगी। वे रहेंगे राजा और रानी बनकर !

और कैंट सोच रही थी—वह अच्छा हो जाय तो वह दावत करेगी—खुशियाँ मनायगी।

बुझने के पूर्व दीपक की लपक एक बार तेज हो जाती है। वर्मा का यह क्षणिक स्वास्थ्य-लाभ भी वही तेज लौ थी। घंटे भर बाद फिर हालत गड़बड़ा गई और जब खिड़की की राह आसमान का दिया, चाँदनी सितारों से सजी काली ओढ़नी ओढ़े कमरे में झाँक रही थी, तभी एकाएक चौंककर वर्मा पुकार उठा—"कैंट ! डियर ! !"

हाथ का बर्तन छूटकर गिर पड़ा और दौड़कर कैंट कमरे में आई। देखा—अपने शिथिल हाथ उठाए वर्मा उसकी राह देख रहा था। आकर वह अपने आप उसकी बाहों में समा गई।

दोनों को ही लगा कि बिजली चमककर फेल हो गई।

शरीर झन्ना उठा। वर्मा के हाथ झूल गए। कैंट के होश उड़ गए। वह चीखी और उसके नयन वेदना से भर गए।

वर्मा की पथराई आँखें एकटक, अपलक बर्फ सी शीतल, दूधिया चाँदनी को देख रही थीं—दूर तक। चेहरा उसका पहले से चमकदार हो गया था पर शरीर का रक्त पानी बन चुका था, सारे सपने मन के अँधेरे में गायब हो गए।

× × ×

दूसरे दिन जब वर्मा की लाश नदी की ओर जा चुकी थी और कैंट काली साड़ी पहने, उदास, माँ के सिरहाने बैठी बिलख रही थी तभी वर्मा के नाम एक चिट्ठी पौस्टमैन दे गया।

कैंट ने अपना अधिकार समझकर पढ़ डाला—उसकी सौतेली विधवा माँ ने लिखा था कि अब उसके बाप नहीं रहे। वही घर का अकेला मालिक ठहरा, आकर उसे अपना काम-काज देखना चाहिए।

आँचल से आँसू पोंछकर कैंट ने सोचा—काश! यह पत्र कल ही मिल गया होता। वर्मा अपने बड़प्पन का प्रमाण अपनी आँखों से देख लेता।

———

ता
ज
की
नों
व
०



सान्ध्य सूर्य की पीली किरणें वृक्षों के शिखरों पर विलीन हो रही थीं। धीमी धीमी बहती हुई बयार यमुना के वक्षस्थल में गुदगुदी उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रही थी। सम्राट् शाहजहाँ उद्यान के किनारे गुलाब के कुंज के निकट खड़े अधखिली कलियों का सौन्दर्य निहार रहे थे। रह रहकर उनकी दृष्टि नीचे बहती हुई यमुना की लहरियों तक जाकर फिर लौट आती थी, जैसे सरिता की लोल लहरियाँ कूल से टकराकर लौट आती हैं।

चार-पाँच कलियाँ एक साथ उलझी हुई विहँस रही थीं। सम्राट् ने अपनी कोमल उँगलियों से उन्हें दुलराते हुए नगर की ओर दृष्टि फेरी। श्वेत पाषाण-खंडों द्वारा निर्मित उस भवन पर जाकर उनकी दृष्टि टिक गई। क्षण भर वे उसे उसी प्रकार देखते रहे। इस भवन के प्रति सम्राट् को बड़ा मोह है। जब कभी

उनकी दृष्टि इस ओर आती है तो दस वर्ष पूर्व की एक घटना बरबस उनकी आँखों के सामने आकर फैल जाती है। उस समय वे सम्राट् नहीं बल्कि शाहजादा खुर्रम थे। पिता की आज्ञा से उन्हें दक्षिण जाना पड़ा। मरहठों का वह प्रान्त किसी भी मुगल के लिए खतरे से पूर्ण हो सकता था। उस दिन उनकी सेना ने आम्रकूट से थोड़ी दूर पर पड़ाव डाला। दक्षिण के उस प्रदेश की सन्ध्या बड़ी मनोहर मालूम होती थी। वे टहलते टहलते अपनी सेना से थोड़ी दूर आगे निकल गए। तभी सहसा पीछे उन्हें कुछ आहट जान पड़ी। मुड़कर उन्होंने पीछे देखा। एक व्यक्ति दौड़ा हुआ उनकी ओर आ रहा था। खुर्रम की समझ में कुछ न आया। वह व्यक्ति उनसे थोड़ी दूर पर आकर क्षण भर रुका, फिर एक पेड़ की ओर झपट पड़ा। खुर्रम ने उस ओर देखा—एक मरहठे सैनिक पर जो उनकी ओर खड़ा देख रहा था, सहसा आगन्तुक टूट पड़ा। खुर्रम ने क्षण भर देखा, समझा। फिर वह उन दोनों की ओर बढ़ा। मरहठे सैनिक ने खुर्रम को आते देखा तो एक ओर भाग गया।

उस व्यक्ति ने पास ही पड़ी अपनी तूलिका उठाई और खुर्रम की ओर बिना दृष्टि किए ही एक तरफ चल पड़ा। खुर्रम को कौतूहल हुआ। वे उसके पीछे-पीछे हो लिए। थोड़ी दूर जाकर वह व्यक्ति एक शिलाखंड पर बैठ गया। पास ही चित्र-कला का सामान बिखरा पड़ा था। उसने अपनी तूलिका रंग में डुबोई और फिर उसकी उँगलियाँ चलने लगीं।.........और उस क्षण के परिचय ने मित्रता का रूप धारण कर लिया।

जमशेद शिल्पी तथा चित्रकार था। वहाँ बैठा अपनी कल्पना को चित्रित कर रहा था—तभी उसने देखा कि वह मरहठा

सैनिक एक मुगल पर आक्रमण करने जा रहा है। हाथ में केवल तूलिका ही लिए हुए, जैसे वही उसका प्रमुख शस्त्र हो, वह उससे भिड़ने चल पड़ा। और फिर अपनी प्राणरक्षा के लिए शाहजादे खुर्रम को उस कलाकार का कृतज्ञ होना पड़ा। उस घटना के पश्चात् जमशेद शाहजादे खुर्रम के साथ ही रहने लगा। खुर्रम के कला-प्रेम ने शिल्पी को प्रेरणा प्रदान की। जब खुर्रम ने भारत–सम्राट् बनकर शाहनशाह शाहजहाँ की पदवी धारण की तब जमशेद के लिए आगरे में अपने महल के निकट ही एक भवन बनवा दिया। जमशेद उसमें अपना एकाकी जीवन व्यतीत करता। उसकी दुनिया चित्रों और मूर्त्तियों के बीच व्यतीत होती।

आज कई दिनों से जमशेद दरबार में नहीं आया था। सम्राट् शाहजहाँ को उसकी अनुपस्थिति पर आश्चर्य नहीं हुआ। बहुधा जब कभी जमशेद किसी कला-कृति का निर्माण प्रारम्भ करता तो वह उसमें इतना लीन हो जाता था कि फिर घर से बाहर भी न निकलता। पर आज सम्राट् को न जाने क्यों जमशेद को देखने की इच्छा प्रबल हो उठी। उदास भाव से वे उस प्रस्तर भवन की ओर देखने लगे। तभी किसी ने पीछे से पुकारा, "सम्राट्!"

शाहजहाँ ने मुड़कर पीछे की ओर देखा—"कौन? जमशेद!" उनका मुख-मंडल प्रसन्नता से चमक उठा। उन्होंने पूछा—"तुम कहाँ थे जमशेद? अभी मैं तुम्हारे ही बारे में सोच रहा था।"

"अपनी दुनिया में सम्राट्!" जमशेद ने उत्तर दिया।"

"अपनी दुनिया में! क्या कर रहे थे?"

"सम्राट्! मैंने एक मूर्त्ति बनाई है। उसे अभी अभी पूरी कर पाया हूँ और पूरी करते ही आपके पास दौड़ आया हूँ।"

"हम भी देखेंगे तुम्हारी वह कलात्मक मूर्त्ति जमशेद !"

"मैं अभी लाता हूँ सम्राट् !"

सम्राट् क्षण भर चुप रहे। उस्ताद जमशेद जब जाने लगा तो सम्राट् ने कहा—"नहीं, हम वहीं चल कर देखेंगे।"

उस्ताद के साथ साथ सम्राट् महल के बाहर आए। पहरेदारों ने आश्चर्य से देखा, पर चुप रहे। जमशेद ने घर पहुँचकर वह मूर्त्ति सम्राट् को दिखाई तो सम्राट् ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा —"जमशेद, तुमने यह बहुत ही सुन्दर बनाई है, तुम सच्चे कलाकार हो। इतनी सुन्दर मूर्त्ति ! यह हमारे अन्तःपुर में मलिका-ए-आलम के पास जायगी।"

"सम्राट् की इस गुणग्राहकता के लिए दास कृतज्ञ है।"

सम्राट् ने मुसकराकर नौकर की ओर देखा।

उस दिन अन्तःपुर में जमशेद की उस कलामूर्त्ति की बड़ी चर्चा रही।

× × ×

आसफ खाँ ने भी मूर्त्ति की चर्चा सुनी तो उसे देखने की इच्छा प्रबल हो उठी। जमशेद की कला का वह सदा से ही प्रशंसक था। उसका विश्वास था कि जमशेद की कला अत्यन्त महान और विस्तृत है, परन्तु अभी तक अपनी समस्त कला का उसने उपयोग नहीं किया। यदि जमशेद अपनी समस्त कला का उपयोग करके कुछ बना सके तो सम्भवतः वह संसार की सर्वश्रेष्ठ कला-कृति होगी।

मूर्त्ति को देखने के लिए वह अन्तःपुर की ओर चल पड़ा। मूर्त्ति मलिका-ए-आलम के कमरे में रखी थी। आशफ खाँ को कहीं आने-जाने की रोक-टोक न थी। उसके पिता का सम्राज्ञी के पूर्वजों से सम्बन्ध था। जब उसके पिता का रक्त मुगल-

साम्राज्य के लिए बलि हुआ तब वह बहुत छोटा था। शाही महल में ही उसका पालन-पोषण हुआ था। और मुमताज—वह तो उसे सदा ही स्नेह की दृष्टि से देखती थी। नारी को अपने पितृ-कुल से स्वाभाविक स्नेह होता है और सम्राज्ञी के अन्तर की नारी को आसफ का बड़ा सम्मान था।

आसफ ने ज्यों ही अन्तःपुर में प्रवेश किया, वहाँ की सुन्दरियों में एक स्पन्दन लहरा उठा। कितनी ही आँखें उठकर यौवन के बसन्त से प्रफुल्ल आसफ के मुख पर आ टिकीं। उन आँखों में कितनी याचना, कितनी करुणा थी। परन्तु आसफ जैसे इन आँखों का अभ्यस्त हो गया है। उसका हृदय इनके सम्मुख पराजय स्वीकार करना नहीं जानता, परन्तु सम्राज्ञी के कमरे के द्वार पर पहुँचकर उसकी आँखें एक बार चंचल हो उठीं। चिलमन के बाहर से उसने देखा-सम्राज्ञी अपनी प्रिय दासी नसीम के साथ बातें कर रही थी। क्षण भर वह रुका। नसीम के हँसने की ध्वनि उसके कानों में पड़ रही थी। उसके हृदय में एक टीस उठी।.........वह नसीम उसके लिए एक पहेली बनकर ही रह जाती है। आसफ नारी-सौन्दर्य के निकट अपने को अजेय समझता है। परन्तु नसीम के सम्मुख आते ही वह पराजित सा हो उठता है। कई बार उसने सोचा कि सम्राज्ञी से वह इस दासी को अपने हृदय की सम्राज्ञी बनाने के लिए माँग ले। परन्तु उसका साहस न पड़ा। वह जानता है कि सम्राज्ञी उसे बहुत प्यार करती है। वह उसकी बचपन की सखी रही है। उसे क्या वह अपने हृदय से दूर जाने देगी।

आसफ अपने विचारों में भूल सा गया। तभी नसीम ने चिलमन हटाकर धीरे से कहा—"आपको मलिका-ए-आलम बुला रही हैं।"

आसफ की आँखें मुसकरा उठीं। उसने एक बार नसीम को निहारा, फिर कमरे में प्रवेश किया। सम्राज्ञी के निकट आकर खड़ा हो गया। सम्राज्ञी ने पूछा—"क्या बात है ?"

"उस्ताद जमशेद की मूर्त्ति की चर्चा........।"

वह बात पूरी भी न कर पाया था कि सम्राज्ञी बीच में ही बोली—"हाँ आसफ ! वह मूर्त्ति बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। तुम देखना चाहते हो ?"

"संसार का वह श्रेष्ठ कलाकर है, परन्तु उसकी कला को अभी पूर्ण प्रेरणा नहीं प्राप्त हुई है।—" आसफ ने उत्तर दिया। उसकी आँखें पृथ्वी पर गड़ी थीं।

आसफ की बात सुनकर नसीम ने उसे एक बार ताका। कितने दिनों से वह उस्ताद के बारे में सुनती आ रही है, पर आज तक उसने उसे देखा नहीं। हृदय में न जाने क्यों धड़कन सी होने लगी।

सम्राज्ञी ने नसीम की ओर इशारा किया। उसने मूर्त्ति लाकर सामने रख दी। उसके हाथों में कम्पन था और दिल में धड़कन। उसे लगा जैसे वह मूर्त्ति सजीव हो उठी।

"ओह कितनी सुन्दर !" आसफ के मुँह से निकल पड़ा। एक बार चोरी चोरी उसने नसीम की ओर देखा, पर वह उस समय सम्भवतः किसी दूसरी दुनिया में खोई, रास्ता खोज रही थी।

× × ×

उस रात जब सारे संसार पर काला परदा पड़ चुका था, जब प्रत्येक प्राणी ने अपनी आँखें मूँद ली थीं, नसीम को आँखों में नींद न थी। उसकी सुन्दर पलकें स्मृति के बोझ से भी झुक न सकी थीं। हृदय का स्पन्दन बढ़ता ही जा रहा था।

दीपक के धुँधले प्रकाश में वह अपने कमरे में टहल रही थी, परेशान हो कर।

उसे लगता था मानो कमरे की दीवालें उसकी ओर खिसती चली आ रही हैं। आखिर कब तक वह कमरे में रह सकती थी। सिर से पैर तक अपने को काले बुर्के से ढाँपकर वह अन्तःपुर से बाहर निकली। दीवार के किनारे किनारे अँधेरे में और कभी कभी बाग में पेड़ों की काली छाया में छिपती हुई सदर दरवाजे की ओर वह शीघ्रता से बढ़ी चली जा रही थी। शायद अब भी वह अपने को संसार की पैनी दृष्टि से बचाए ही रखना चाह रही थी।

महल के बाहर आकर वह एक ओर चल पड़ी। उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे। चोर पहली बार सेंध लगाने चला था। थोड़ी दूर आगे सड़क के किनारे बने श्वेत पत्थर के भवन के सामने आकर वह रुक गई। पत्थर की वे दीवारें उसकी आँखों के सम्मुख मानो सजीव होकर उसकी ओर घूर रही थीं। दरवाजे के बगलवाले कमरे के द्वार पर आकर वह रुकी। कमरे में प्रकाश हो रहा था। उस्ताद जमशेद सम्भवतः अब तक अपने काम में व्यस्त थे। बाहरवाली खिड़की से झाँककर नसीम ने अन्दर के प्रकाश में उस्ताद को सिर से पैर तक देखा। लम्बा, गोरा कद, उन्नत ललाट और मुख-मंडल पर आकर्षण का साम्राज्य। नसीम क्षण भर तक उस कलाकार की कलापूर्ण आकृति को निहारती रही। जमदेश के लम्बे बाल खिसककर उसके मुँह पर आ लटके थे। कितनी गम्भीरता उसके मुँह पर विराजमान थी। निर्जीव प्रतिमा सी वह उसे देखती रही। हृदय भर देख चुकने के बाद उसने दरवाजे पर जल्दी जल्दी परन्तु धीमी धीमी थपकियाँ दीं। आवाज सुनकर उस्ताद की उँगलियाँ

रुकीं, मस्तक ऊपर उठा। दृष्टि उठकर किवाड़ों पर गई। उसकी आँखों में आश्चर्य था। बाहर से फिर थपकी की आवाज आई। असन्तोष की एक अँगड़ाई लेकर द्वार खोल दिया।

सामने बुर्के से ढकी स्त्री को देख आश्चर्य से वह एक पग पीछे खिसक गया। आगन्तुक ने आज्ञा की प्रतीक्षा किए बिना ही कमरे में कदम रखा तो उस्ताद् और पीछे हट गया। कमरे के बीच में पहुँचकर नसीम ने बुर्का उतारकर एक ओर रख दिया। उस्ताद् ने आश्चर्य से नसीम के सुन्दर मुख की ओर देखा। लज्जा से वह रंगीन हो रहा था।

नसीम कुछ कहना चाह रही थी, पर उसका कंठ जैसे रुँध गया हो। दम उसका घुटने लगा। उस्ताद् ने पूछा—"तुम कौन हो और इतनी रात को तुम्हें यहाँ क्यों आना पड़ा?"

"मैं मलिका-ए-आलम की खास बाँदी......।" फिर वह गूँगी हो गई। उस्ताद् को आश्चर्य हो रहा था। और नसीम—उसका तो शरीर जैसे निश्चेष्ट हो रहा हो। उस्ताद् ने पूछा—"इतनी रात को......।" और फिर वह रुक गया।

नसीम ने अपनी बड़ी बड़ी आँखें उठाकर उसकी ओर ताका। उसने हिम्मत की। उस्ताद् ने पूछा—"पर कैसे आईं? क्या मलिका-ए-आलम ने—"

"नहीं, उन्होंने मुझे नहीं भेजा।" अस्फुट शब्द उसके मुँह से निकल पड़े।

"उन्होंने नहीं भेजा? तब इतनी रात को यह आई क्यों?" उस्ताद् के मस्तक पर रेखाएँ खिंच गईं। कहा—"फिर आप ने क्यों कष्ट किया?........"

अब नसीम क्या उत्तर दे? वह स्वयं भी तो नहीं जानती

कि वह क्यों आई ? क्यों उसने अंतःपुर के नियमों का उल्लंघन किया।

वह चुप रही। उस्ताद ने जैसे उसके आशय को समझकर कहा–"इतनी रात को आपका अकेले आना तो ठीक नहीं ही है।"

"इसी लिये तो मैं रात को आई।"—नसीम ने किसी प्रकार उत्तर दिया। क्षण भर शान्ति रही। भला उस्ताद उस जबरदस्ती का क्या उत्तर दें। सहसा कमरे में एक खट् की आवाज हुई। नसीम ने चौंककर चारों ओर देखा। उसे डर लगा। उस्ताद की तूलिका चौकी के कोने पर रखी थी, वही खट् से धरती पर गिरी थी। जल्दी जल्दी नसीम ने कहा—

"जो मूर्त्ति आपने बादशाह सलामत को भेंट की है वह अंतःपुर में ही सजाई गई है। मुझे वह बड़ी पसन्द है। मैं आपको उसी के लिए बधाई देने आई हूँ।"

क्षण भर रुककर उस्ताद ने कहा—"यह आपकी मेहर-बानी है।"

"मैं आपकी प्रशंसा अपने मुँह से और आपके सामने ही करना चाहती थी, इसी लिए यहाँ आई।" नसीम ने पूर्ण साहस बटोरकर कहा।

उस्ताद के चेहरे पर बच्चों जैसी शरारतभरी मुसकान की एक झलक दिखी। उन्होंने कहा—"रास्ते में अकेले आपको डर नहीं लगा ?"

"मेरी इच्छा डर से अधिक बलवती थी। इसके पहले आपको कृति मैंने नहीं देखी थी।"

नसीम ने कमरे की दीवारों पर लगे चित्रों की ओर देखकर कहा—"ये सब आपके बनाए चित्र हैं ? कितने सुन्दर हैं !"

उस्ताद को आज एक नया अनुभव हो रहा था। नसीम

की प्रबल इच्छा उन्हें सम्राट् शाहजहाँ की आज्ञा से भी अधिक प्रबल प्रतीत हुई। उन्होंने अपनी कृतियाँ नसीम को दिखाना शुरू किया। नसीम मन्त्रमुग्ध सी उन्हें देखती ही रही। उस्ताद ने अपनी प्रशंसा और भी न जाने कितनी बार सुनी थी; पर ऐसी प्रसन्नता उन्हें कभी न हुई थी।

नसीम झुकी हुई एक चित्र देख रही थी और उस्ताद उसके निकट ही बैठे थे कि सहसा कमरे की खुली खिड़की से हवा का एक झोंका आया। नसीम की अलकों ने उड़कर उस्ताद के कपोलों को चूम लिया। उस्ताद का सारा शरीर सिहर उठा। वे हिल गए। अलकें समेटते हुए नसीम ने खड़ी होकर कहा—"अब मैं जाऊँगी।"

"हाँ, चलिए मैं आपको अंतःपुर तक पहुँचा आऊँ।"—उस्ताद ने अनमने से होकर कहा। मन में कहने लगे—काश, वे अपने चित्र उसे पूरी रात दिखा सकते।

"नहीं, नहीं। कोई देख लेगा!"—नसीम ने घबड़ाकर कहा—"मैं अकेली ही छिपकर किसी प्रकार भाग जाऊँगी।"

उस्ताद क्षण भर उसकी ओर देखते रहे। नसीम ने बुर्का अपने ऊपर डाल लिया। सहसा उस्ताद के मुँह से निकल गया—"तुम्हें जाते देख मुझे दुःख होता है।"

नसीम ने मुसकराकर अपनी दोनों मदभरी आँखें उठाईं और उस्ताद की ओर देखा। उस्ताद के हृदय में एक टीस सी उठी। नसीम एक शीतल निश्वास फेंककर द्वार की ओर मुड़ी।

उस निश्वास ने उस्ताद को भीतर तक छू लिया। फिर दूसरे ही क्षण नसीम कमरे से बाहर अंधकार में धीरे धीरे गुम हो गई। उस्ताद दूर तक उसे व्यर्थ ही देखते रहे। अब भी उसकी वे छलकती सी आँखें उस्ताद के आगे नाच रही थीं।

उन आँखों में उस्ताद ने कुछ पा लिया था। उनके हृदय ने जोर से पूछा—"तो क्या नसीम फिर भी कभी आवेगी ?" उस्ताद आकर कमरे में टहलने लगे। उन्हें स्वयं अपने ऊपर आश्चर्य हो रहा था।

जीवन के इतने वर्ष उन्होंने व्यर्थ ही विता दिए। उन्होंने अपनी कला को ही प्रेयसी मान रखा था। पर जो एक अभाव उन्हें सदा खटका करता था वह, बस यही था। उसने तो कभी किसी स्त्री के सामने पराजय नहीं खाई और यह आज···।

× × ×

नसीम अन्तःपुर के द्वार के भीतर घुसने को ही थी कि उसे पीछे से पदध्वनि सुनाई दी। घबड़ाकर उसने चारों ओर देखा। उसका रक्त जम सा गया। तभी न जाने कहाँ से आसफ खाँ आकर उसके सामने खड़े हो गए।

"नसीम !"

नसीम की आँखों के सामने अंधकार काला छाता ओढ़े खड़ा था।

"नसीम !"—आसफ खाँ का स्वर कठोर हो उठा—"तुम समझती थीं कि सभी सो रहे हैं, पर मैं जाग रहा था। तुम काले बुर्के में थीं, किन्तु एक दर्जन बुर्कें में भी मैं तुम्हें पहचान सकता हूँ। तुम जमशेद के पास गई थीं ?"

नसीम जैसे गिरी पड़ती थी। उसने दरवाजे का चौखट पकड़ लिया। यह बिजली बिना बादल के कहाँ से टूट पड़ी।

"तुम इतनी बेशर्म हो ? मैंने कभी नहीं सोचा था कि शाही हरम को कोई बाँदी इतनी रात में छिपकर अपने प्रेमी के पास जायगी—। अगर कल मैं यह प्रकट कर दूँ तो तुम्हारी क्या दशा होगी ? कल ही तुम मलका की दृष्टि में कितनी गिर

जाओगी। फिर तुम्हारा क्या होगा--जानती हो? जीवित ही पृथ्वी में गाड़ दी जाओगी। चली हैं प्रेम करने।" आसफ बिगड़ा।

प्रेम! प्रेमी! तो क्या वह उस्ताद से प्रेम करने लगी है? नसीम के हृदय में विचारों का संघर्ष छिड़ा था। उसे चुप देखकर आसफ ने फिर कहा—

"नसीम, मैंने तुम्हें कुछ और ही समझ रखा था--यह नहीं सोचा था कि तुम यहाँ तक नीचे उतर सकती हो!"

नसीम जैसे तड़प उठी। उसने कौन सा ऐसा पाप किया है? यह आसफ कितना नीच है! उसका मुह क्रोध से तमतमा उठा। काँपते हुए स्वर में उसने कहा—"आसफ! तुम बड़े नीच हो। मैंने किया क्या है?"

"किया क्या?" आसफ खाँ अट्टहास कर उठा—"कुछ भी नहीं, मेरी भोली नसीम! कल मैं मलका से जब सब कह दूँगा तब वे ही बतावेंगी कि किया क्या है।"

नसीम मलका-ए-आलम का नाम सुनकर काँप उठी। उसकी आँखों के सामने उसका भविष्य बिखर गया। उसका स्वर धीमा पड़ गया और उसने कहा—"पर इससे तुम्हें क्या लाभ होगा आसफ?"

"यदि न भी कहूँ तो तुम मेरा कौन सा हित करोगी?"

आसफ नसीम की ओर इस प्रकार देख रहा था जैसे बधिक जाल में फँसे पंछी को देखता है।

"अच्छा आसफ, मैं तुम्हारा कौन सा हित कर सकती हूँ?" नसीम डर गई थी।

"तुम सब कुछ कर सकती हो। कितने दिनों से तुम्हें अपने हृदय की रानी बनाने की आशा को पालता आ रहा हूँ। पर कभी तुम्हारा रुख न पाकर मैं चुप रहा। यदि तुम मुझसे प्रेम.........।"

नसीम बीच में ही बिगड़कर बोली—"तेरी इतनी हिम्मत ......नीच ! पापी ! नसीम तेरे डराने से किसी भी शर्त पर अपना शरीर न बेचेगी।"

"तो आसफ भी तेरे इस शरीर पर किसी दूसरे का अधिकार न होने देगा।" आसफ ने जोश के साथ उत्तर दिया। "प्रातः तक निश्चय करने का और अवसर है, नहीं तो कल जो होगा उसकी तुम स्पष्ट कल्पना कर सकती हो।"

फिर आसफ एक ओर चला गया और नसीम भी धीरे धीरे अपने पाँव उठाती हुई कमरे की ओर बढ़ चली।

× × ×

आसफ खाँ ने अपनी बात पूरी की--पर जरा देर में। कारण नसीम ने क्षमा-याचना के रूप में ही सारी कथा मलका-ए-आलम को सुना दी थी। उसकी बात सुनकर सम्राज्ञी पहले तो चुप सोचती रहीं, फिर मुसकरा कर बोलीं—"तुमने गलती तो अवश्य की है पर यह तुम्हारी भावुकता का दोष है। प्रेम का सौदा इतनी जल्दी में नहीं करना चाहिए। मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगी, तुम वायदा करो कि—"

"हाँ मैं बचन देती हूँ मलका-ए-आलम, कि अब ऐसा न करूँगी।" नसीम ने कहा।

"ठीक।" सम्राज्ञी ने हँसकर कहा।

"क्या मैं उस्ताद से न मिल सकूँगी ?" नसीम ने यह बड़े ही धीमे स्वर में कहा, पर सम्राज्ञी ने सुन लिया और पूछा—

"तो क्या इतना होने पर भी मिलती ही रहना चाहती हो?"

नसीम ने गर्दन नीची कर ली।

"परेशान न होओ।" सम्राज्ञी ने कहा--"कोई नहीं जानता कि कल क्या होगा।" कहकर वह जोर से हँसी।

सम्राज्ञी का इतना ही आश्वासन काफी था। नसीम उठकर चली गई। उसी दिन मलका ने सब बातें समझाकर सम्राट् को बताईं। अपने मित्र जमशेद के लिए वे सब कुछ कर सकते थे—उसका दिल टूटने न देंगे वे। सम्राज्ञी के इस प्रस्ताव को कि उस्ताद का ब्याह नसीम से कर दिया जाय सम्राट् ने स्वीकार कर लिया। सम्राट् ने यह भी निश्चय किया कि निकाह शाही ढंग पर हो।

फिर थोड़े ही दिनों बाद निकाह को तिथि भी शाहजहाँ ने निश्चित कराई। तैयारियाँ शुरू हो गईं। अब नसीम और उस्ताद नित्य ही मिलते। जो बीज बोया गया था—अनुकूल वातावरण पा अंकुरित हो उठा।

एक दिन उस्ताद ने नसीम से कहा—"शायद संसार में हमारे जैसे दूसरे प्रेमी न मिलें—इसलिए इस प्रेम की निशानी मैं ऐसी बनाना चाहता हूँ जो संसार में अमर हो जाय।"

"तुम्हारे नाम के साथ तो हमारा प्रेम भी मशहूर हो ही जायगा।" नसीम ने कहा।

"नहीं, अपनी कला द्वारा मैं ऐसी चोज बनाना चाहता हूँ जो मेरा नाम अमर करे और साथ ही हमारे प्रेम की निशानी भी बनकर रहे। मैं एक ऐसे महल का नमूना बनाना चाहता हूँ जो आज तक शायद मनुष्य की सोचने की सोमा के बाहर हो हो। इतना सुन्दर! और यदि कभी मेरे पास धन हुआ तो उसे संगमरमर का बनवाकर संसार के लिए अपना और तुम्हारा प्रतीक छोड़ जाऊँगा।"

उस दिन जमदेश के प्रेमी कलाकार ने जो कल्पना की थी, वह उसकी पूर्ति में शीघ्र ही लग गया। अपने मस्तिष्क में उसने एक सुन्दर महल की कल्पना की। पहले तो उसने उस महल

का रेखा-चित्र तैयार किया, फिर उसका मिट्टी का एक नमूना छोटे से खिलौने के रूप में तैयार किया। नसीम ने देखा तो मन में सोचा—"उस्ताद ने सच ही कहा था—ऐसा सुन्दर कि देखने की कौन कहे, शायद मनुष्य ने ऐसे महल की कल्पना भी न की होगी। इतना सुन्दर !—"

उस्ताद यह देखकर किंचित् हँस पड़े। उनकी आँखों में हृदय का समस्त प्रेम छलक आया। वे बोले—"नसीम, मुझे इसके लिए प्रेरणा तुम्हीं से मिली और यह तुम्हारे ही लिए है।"

जीवन के परदे पर सुनहले चित्र अंकित होते जाते थे और मिटते जाते थे। उस्ताद जमशेद और नसीम अपने भावी जीवन की कल्पना कर रहे थे। निकाह होने में केवल चार ही दिन शेष हैं। सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं। सम्राट् शाहजहाँ ने अपने मित्र जमशेद के विवाह के उपलक्ष में सारे महल को सजाने की आज्ञा दी। नसीम सम्राज्ञी के निकट बैठी थी। शतरंज का खेल चल रहा था। सहसा सम्राज्ञी ने कहा—"नसीम ! तेरे निकाह में अब कै दिन हैं ?"

"चार दिन सम्राज्ञी !" नसीम सिर नीचा किए हुए बोली। सम्राज्ञी के मुँह पर एक आकर्षक मुसकान चमक उठी। उन्होंने अपनी बड़ी बड़ी आँखें नसीम के चेहरे पर बिछा दीं और कहा—"नसीम, उस्ताद बड़ा भाग्यवान है। नहीं तो मेरी बाँदी की छाया भी उसे देखने को न मिलती।"

नसीम ने जब कुछ उत्तर न दिया तो सम्राज्ञी ने छेड़ा—"देख अभी तुझे यह भी तो सीखना होगा कि पति से कैसे बातें करेगी !"

एक दूसरी बाँदी जो कमरे में घुस रही थी, बातें सुनकर बोली— "कितने दिनों से तो दोनों मिलते-जुलते आ रहे हैं।

भला यह भी कोई शादी में शादी है।"

सम्राज्ञी मुसकरा उठीं और अन्य सभी बाँदियाँ खिलखिला पड़ीं। इतने में सम्राट् ने कमरे में कदम रखा। देखते ही बाँदियाँ उठ खड़ी हुईं। सम्राट् धीरे धीरे आकर पलंग पर बैठ गए। उनकी आकृति से चिन्तन की झलक प्रकट हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि वे किसी गम्भीर विषय पर विचार कर रहे हैं।

बाँदियाँ एक एक करके चुपके चुपके कमरे के बाहर हो गईं। सम्राज्ञी ने पूछा—"सम्राट्! आपके चेहरे पर ये बादल क्यों मँडरा रहे हैं?"

सम्राट् ने मुमताज की हथेली को अपने हाथ में ले लिया। फिर उसकी ओर देखते हुए बोले—"मेरी मुमताज! मुझे दक्षिण जाना होगा।"

प्यार से अपने कपोल को सम्राट् के कन्धे पर रखते हुए सम्राज्ञी ने कहा—"यह तो अच्छा है। मैं बहुत दिनों से दक्षिण देखना भी चाहती थी। सुना है, बड़ा विचित्र देश है।"

"पर वहाँ मुझे विद्रोहियों का दमन करने जाना है।" सम्राट् ने कहा।

"तो क्या मुझे नहीं ले चलेंगे?"

"नहीं, तुम्हें कष्ट होगा।"

पर सम्राज्ञी न मानीं। उनके भी जाने की तैयारियाँ शुरू हो गईं। सम्राज्ञी जहाँ भी जाती थीं, अपनी सभी बाँदियों को साथ ले जाती थीं। पर इस बार उन्होंने कुछ ही बाँदियों को अपने साथ रखने का निश्चय किया। नसीम को बुलाकर उन्होंने कहा—"नसीम! तुझे मैं साथ नहीं ले जाऊँगी। कहीं तेरे वियोग में उस्ताद का कोमल हृदय टूट न जाय। तू यहीं रह। लौटकर मैं तेरी शादी करूँगी।"

नसीम चुप रही। उसकी आँखें भर आईं। अपनी मलका से दूर रहना भी तो उसके लिए कठिन है। किन्तु.........।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही सम्राट् ने सेना के साथ दक्षिण को प्रस्थान किया। मुमताज उनके साथ थी।

× × ×

कहते हैं अदृष्ट का हाथ बड़ा क्रूर होता है। सम्राट् को देखकर वह एक बार अट्टहास कर उठा। विद्रोहियों पर तो उन्होंने विजय प्राप्त की, पर अपने उपर विजय पानेवाली मलका को उन्होंने खो दिया। उनके जीवन की यह महान पराजय थी। मुमताज के शव को लेकर वे आगरे लौटे—उनका दिल टूटा था, आँखें गीला थीं।

सम्राट् और सम्राज्ञी के दक्षिण-प्रस्थान के कारण नसीम और उस्ताद् का ब्याह रुक गया। मुमताज दोनों का विवाह अपनी उपस्थिति में ही करना चाहती थी। और फिर ये दो चार महीने कोई बहुत अधिक थोड़े होते हैं। पर उस्ताद् के लिए ये दिन कठिन हो रहे थे। उन्होंने अपने प्रेम की निशानी का निर्माण करना शुरू कर दिया था। सारे नगर में उनकी इस नई कृति की चर्चा होने लगी। उस्ताद् अपनी इस कृति को संसार से छिपाकर रखना चाहते थे। और अगर कभी बात भी आती तो उसे दिखाने से साफ इनकार कर देते।

महल का वह नमूना तैयार हो गया। उस्ताद् की छेनी उस पर अन्तिम प्रहार कर रही थी। नसीम आकर उस्ताद् से थोड़ी दूर पर बैठ गई। उस्ताद् ने एक बार दृष्टि उठाकर उसकी ओर देखा, फिर कहा—"नसीम, हमारे प्रेम का प्रतीक बन गया।"

"अच्छा!" नसीम ने उत्तर दिया। उसकी आँखों से एक

ज्योति निकल रही थी। नसीम निकट आ गई और उस्ताद के बालों से खेलने लगी।

इतने में नौकर दौड़कर भीतर आया।—"उस्ताद !उस्ताद !" और वह मूक हो गया। आँखों में पानी भरा था। जैसे सब कुछ लुट गया हो।

"क्या है ?"—उस्ताद ने मुड़कर उसकी ओर देखा।

"मलका-ए-आलम—" आगे वह न बोल सका। बात जैसे उसके गले में ही अटक गई।

"अरे बता क्या बात है ? क्या हुआ मलका को ?" उस्ताद ने चौंककर पूछा। नसीम उठकर नौकर के निकट आ गई। दोनों की आँखों से कोई अज्ञात आशंका स्पष्ट हो रही थी।

"चली गईं दुनिया से !"

"आँय !" उस्ताद सिर थामकर बैठ गए। नसीम चीखकर गिर पड़ी। पर जो होना था वह हो चुका था। बिजली सा यह शोक-समाचार सारे शहर में फैल गया था। चारों ओर मातम छा गया था।

× × ×

सम्राट् शाहजहाँ जब नगर में आए तो सारा नगर उनकी आत्मा की तरह कराह उठा। वे महल में जाकर छिप गए। आँखों से आँसुओं का तार टूटता ही न था। मलका की याद हरी होकर ही रहना चाहती थी। शासन के काम बन्द थे।

दिन बीतने लगे। एक दिन सहसा सम्राट् को स्मरण आया। मुमताज ने नसीम का ब्याह उस्ताद से करने का निश्चय किया था। अपनी मलका की अधूरी अभिलाषा उन्हें पूरी तो करनी ही होगी। उसी दिन उन्होंने आज्ञा दी कि उस्ताद और नसीम का ब्याह मुमताज की वर्षी के दिन हो।

आसफ ने जो यह सुना तो उसके मस्तक की नसों का रक्त उभर आया। दिन भर सोचता ही रहा। उस्ताद को नीचा दिखाना होगा। पर कैसे? कोई उपाय सूझ न पड़ रहा था।

सन्ध्या समय वह सम्राट् के पास पहुँचा। भारत का शाहंशाह उस समय अपनी स्वर्गीया मलका के चित्र को गोद में छिपाए बच्चों की भाँति फूट फूटकर रो रहा था। आसफ हाथ जोड़े खड़ा रहा। शाहंशाह की दुर्दशा देखकर वह भी विचलित हो उठा। शाहंशाह ने आसफ को देखा तो मुँह से निकल गया—"आसफ!" और वे फिर फूट पड़े।

आसफ का कंठ भर आया। थोड़ी देर बाद उसने सम्राट् से कहा—"शाहंशाह! मलका की मृत्यु के लिए आप इस प्रकार कब तक रोते रहेंगे। सोचें तो, आप पर दुनिया का कितना बड़ा बोझ है। भला आपको हँसने-रोने की छुट्टी कहाँ?

सम्राट् चुप थे।

आसफ कहता गया—"मलका के लिए तो सारा देश रो रहा है। पर रोकर ही तो हम उनकी स्मृति अमर नहीं बना सकते। शाहंशाह! आज देश के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह आकांक्षा है कि मलका की स्मृति अमर बनाई जाय। पर यह आप ही कर सकते हैं।"

सम्राट् ने आँखें पोंछकर उसकी ओर देखा। आसफ को उत्साह मिला। उसने कहा—"सम्राट्, मलका की यादगार अमर बनवाएँ।"

सम्राट् कुछ सोचते हुए कमरे में टहलने लगे।

दूसरे ही दिन सम्राट् ने यह घोषणा की कि वे मलका-ए-आलम मुमताज महल की यादगार में एक ऐसा सुन्दर मकबरा बनवाना चाहते हैं जैसा न तो अभी तक बना हो, न भविष्य

में बन सके। कलाकारों से ऐसे सुन्दर मकबरे के निर्माण का नमूना माँगा गया।

देश के सभी कलाकारों ने सम्राट् का आदेश-पत्र पढ़ा। सभी सुन्दरतम नमूने तैयार करने में लग गए।

× × ×

समय का चक्र अबाध गति से चल रहा था। मलका के मकबरे के लिए बहुत से नमूने सम्राट् के पास आ गए थे। एक दिन सम्राट् ने सब को दरबार में मँगवाया। एक एक नमूने की परीक्षा की जाने लगी। अन्त में एक नमूना पसन्द किया गया—उसे पेशावर के एक शिल्पी ने भेजा था। इतना सुन्दर था कि किसी ने उसकी कल्पना भी न की थी। सम्राट् ने उसे निकट से देखते हुए कहा—"इस मकबरे की नींव मलका की वर्षी के दिन पड़ेगी। इसके लिए स्थान आदि का प्रबन्ध होना चाहिए।" इतने में उन्हें याद आया—उसी दिन तो उन्होंने जमशेद के विवाह का आदेश दे रखा है। मलका की सभी इच्छाएँ एक ही दिन पूरी हो जायँगी। सम्राट् की आँखें भर आईं। उन्होंने कहा—"उस्ताद जमशेद कहाँ हैं? उन्हें भी यह नमूना दिखाओ।"

आसफ झट से आगे बढ़कर बोला—"शाहंशाह क्षमा करें। उस्ताद आजकल कहीं आते-जाते नहीं। न जाने क्या बात है। उन्होंने कोई नमूना भी सेवा में नहीं भेजा।"

शाहंशाह की आँखें झुक गईं। उस्ताद ने नमूना क्यों नहीं भेजा? शायद अभी बना नहीं सके। सम्राट् ने अनमने भाव से कहा—"अच्छा तो उस्ताद के आने के बाद ही निश्चय किया जायगा।"

सम्राट् उठने लगे तो आसफ ने फिर प्रार्थना की—"पर सम्राट्! उन्होंने एक नमूना बना रखा है। उसे शायद अधिक

पुरस्कार की आशावश रखे हुए हैं।"

सम्राट् ने आसफ की ओर तीव्र दृष्टि से देखा और कहा—"नहीं, ऐसा कदापि न होगा।'

सम्राट् क्षण भर सोचते रहे, फिर बोले—"अगर यह सच है तो वह नमूना मेरे पास हाजिर करो।"

आसफ को मनमाँगी मुराद मिल गई। दरबार उठ गया। आसफ बाहर आए और अपने सैनिकों के साथ उस्ताद के घर चल पड़े।

उस्ताद अपने कमरे में उदास बैठे थे। उनकी कल्पना में अनेक मकबरों के चित्र बन और बिगड़ रहे थे। तभी दरवाजे पर ठोकर लगी। परन्तु उस्ताद की समाधि भंग न हुई। नौकर ने दरवाजा खोल दिया और कमरे में प्रवेश किया।

नसीम ने दरबार की बातें सुनी तो उस्ताद से मिलने चल पड़ी। जिस समय वह पहुँची—आसफ उस्ताद के कमरे के बाहर खड़ा था। नसीम को देखते ही कहा—"चलो बड़ा अच्छा हुआ, तुम भी आ गईं।"

नसीम ने एक बार उसकी ओर देखा फिर उस्ताद के निकट चली गई। तभी आसफ कठोर शब्द से गरज उठा—"उस्ताद !..."

उस्ताद की समाधि भंग हुई। मुड़कर उन्होंने दरवाजे की ओर देखा।

"मलका के मकबरे का नमूना कहाँ है?"—आसफ ने पूछा।

"कैसा नमूना!" उस्ताद ने आश्चर्य से आसफ की ओर देखा।

"वही जिसे तुमने तैयार किया है और अधिक इनाम के लालच से रख छोड़ा है।"

"लालच से ! आसफ खाँ, कलाकार रुपए का लोभी नहीं होता। मेरे पास कोई नमूना नहीं है।" उस्ताद ने घृणा से उत्तर दिया।

"तो हमें तुम्हारे घर की तलाशी लेनी होगी। हमें पता है कि तुमने एक नमूना तैयार किया है।"

उस्ताद ने कोई उत्तर न दिया। उसका मुँह लाल हो गया। पर वह उसी प्रकार बैठा रहा। आसफ के सिपाहियों ने कमरे की तलाशी प्रारम्भ की। अन्त में आबनूस की लकड़ी के एक पच्चीकारी किए हुए सन्दूक को जब वे खोलने लगे तो नसोम आकर सामने खड़ी हो गई। बोली—"इसको मत खोलो—इस पर तुम्हारा अपवित्र हाथ न लगना चाहिए।"

उस्ताद ने उस ओर देखा और कहा—"वह किसी के देखने के लिए नहीं है।"

आसफ बोला—"उस्ताद ! हमें मूर्ख बनाते हो ! मैं जान गया वह नमूना इसी बक्स में है।"

"अच्छा अलग हटो—हम दिखा देते हैं।" कहकर उस्ताद ने सन्दूक खोलकर अपने प्रेम के प्रतीक महल के उस नमूने को निकालकर फर्श पर रखा।

आसफ खाँ ने देखा तो उसकी आँखें फैल गईं। जब नमूना इतना सुन्दर है तो असली रूप कितना सुन्दर होगा !

उसने कहा—"इसे ही तो मैं खोज रहा था !"

"यह हमारे प्रेम की निशानी है—हम इसे किसी को नहीं दे सकते।"

"पर तुम्हें देना होगा।" आसफ का स्वर ऊँचा हो गया।

"कदापि नहीं—जब तक हम जीवित हैं यह किसी को नहीं दे सकते।"

"उस्ताद ! इसे हमें सम्राट् के सामने ले जाना है। अगर यों न मानोगे तो हमें बल-प्रयोग करना होगा। और अगर मान जाओगे तो सम्राट् बहुत बड़ा इनाम देंगे।"

"आसफ ! कला का मूल्य धन से कोई भी शाहंशाह नहीं चुका सकता।"

"जानते हो इसका परिणाम क्या होगा ?"

"जानते है।"—नसीम ने बीच में होकर कहा—"संसार का न्याय करनेवाले शाहंशाह से हम अन्याय की आशा नहीं करते। जाओ तुम्हें जो करना हो करना, हम अब सम्राट् से ही अपनी बात कहेंगे।"

सहसा दरवाजे पर कुछ आहट हुई। नसीम ने उधर देखा तो चीख पड़ी। दरवाजे पर सम्राट् खड़े थे। उस्ताद ने बढ़कर सलाम किया। आसफ सकपकाकर पीछे हो गया। सम्राट् ने उसकी ओर देखकर कहा—"हट जाओ!"

आसफ भय से काँप रहा था। चुपचाप वह कमरे के बाहर चला गया। सम्राट् फर्श पर रखे संगमरमर के उस नमूने के निकट ही आकर बैठ गए और उसे ध्यान से देखते रहे। इतना सुन्दर ! वे आत्म-विभोर हो गए।

थोड़ी देर बाद उस्ताद की ओर देखकर सम्राट् ने कहा—"जमशेद ! मैंने सब बातें सुन ली हैं। यह तुम्हारे प्रेम की निशानी है तो क्या इसे तुम दोनों अपने प्रेम के साथ मुझे नहीं दे सकते ?"

उस्ताद चुप थे। उनके अन्तर का द्वन्द उनकी आकृति पर प्रकट हो रहा था। भारत का सम्राट् उस्ताद कलाकार के आगे याचक था। जमशेद ने नसीम की ओर देखा। आँखों ही आँखों में विचार-विनिमय हुआ और अन्त में उस्ताद जमशेद ने कहा—"सम्राट्!

अपने प्रेम की यह निशानी हो हम आपको न देंगे बल्कि अपनी मलका की स्मृति को अमर रखने के लिए हम दोनों अपना प्रेम भेंट करते हैं। हम दोनों विवाह न करके अपने अतृप्त प्रेम को भी अमर बनाए रहेंगे।"

सम्राट् ने उठकर उस्ताद को गले से लगा लिया। उनकी आँखों में आनन्द के आँसू थे। उस्ताद ने कहा—"बस हमारी एक प्रार्थना है कि यह मकबरा उसी स्थान पर बने जहाँ सम्राज्ञी ने ब्याह की बात नसीम से कही थी।"

सम्राट् ने उस्ताद की इच्छा पूरी कर दी। जमशेद और नसीम के प्रेम का वह प्रतीक आज तीन शताब्दियों से उसी स्थान पर यमुना में अपना सौन्दर्य आँकता हुआ खड़ा है, जहाँ रात की चाँदनी में वे पहलेपहल मिले थे। कहते हैं इसीलिए ताजमहल का सौन्दर्य चाँदनी रात में दुगुना हो जाता है।

किन्तु जमशेद और नसीम की चिर-विरही अतृप्त आत्माएँ अब भी अपने प्रेम की निशानी के इर्द-गिर्द घूमा करती हैं।

———

कविता को जड़ ०

सुनहले बसन्त के दिन थे। एक दिन आठ बजे प्रातः मधुकर अँगड़ाता हुआ अपने बिस्तरे पर उठ बैठा। सूर्य की किरणें खिड़की के छिद्र से झाँक झाँककर अपना अनमोल स्वर्ण लुटाने लगी थीं। पर मधुकर जैसे इससे भी बेखबर था। उसके कानों में अपने पड़ोसी बूढ़े की नित्यप्रति की परिचित पंक्ति गूँज उठी—"उठ जा पगले भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।"

मधुकर ने सोचा, बूढ़ा ठीक ही तो कह रहा है। देखो न कितना दिन चढ़ आया है। तभी बड़बड़ाती हुई माँ ने कमरे में प्रवेश किया। मधुकर को खाट पर ही देखकर कहा—"बेटा, चाय ठंढी हो जायगी तो तू मेरे ऊपर मुँह फुलाएगा और अभी तक खाट से उठने का नाम नहीं लिया।"

"माँ, मैं झटपट आता हूँ।"

माँ चली गई। उसने अपने जेब में हाथ डाला दिया-

सलाई ढूँढने को। अब वह सिगरेट पीएगा। आज-कल वह सिगरेट बहुत पीने लगा है। कभी कभी तो उसके कुछ भले मित्रों ने स्पष्ट कह दिया है कि अगर मधुकर इसी तरह सिगरेट पीता रहेगा तो शीघ्र ही टी० बी० का शिकार हो जायगा। दो साल से वह घर में ही रहता है। इसके पहले वह एक बीमा कम्पनी का एजेन्ट था। आज कल उसे लोग कवि कहने लगे हैं। कवि जो कविता बनाता है, समाज की बातें जनता के सामने छन्दों के रूप में सजाकर रखता है—वही कवि। माँ कभी कभी कह देती है, "क्या सिगरेट पीना कविता के लिए आवश्यक है? क्या कवियों में ही बुरी आदतें होती हैं?"

पर मधुकर भला माँ को इसका क्या उत्तर दे! वह केवल हँस भर देता है।

तो दियासलाई उसे नहीं ही मिली। पता नहीं रात को सोते समय सिगरेट जलाकर उसने दियासलाई कहाँ रख दी थी कि मिलती ही नहीं। उसने कमरे की सब आलमारियाँ और ताख छान डाले। उसे अच्छी तरह याद है कि खाट पर पड़े पड़े ही उसने सिगरेट जलाई थी। फिर वह हो क्या सकती है? पर थोड़ी देर बाद जब उसने खीझकर तकिया उठाया तभी दियासलाई, पता नहीं कहाँ से, टपक पड़ी जमीन पर और उसकी तीलियाँ अलग अलग तितर-बितर हो गईं। मधुकर ने उन्हें संजोकर फिर ठीक किया। एक सिगरेट जलाकर मुँह में दबाई और कमरे के बाहर चला गया।

थोड़ी देर बाद लौटा तो मेज पर चाय रखी थी। पीकर उसने माँ को पुकारा—यह कहने को कि आज वह दस बजे के पहले ही खाना खा लेना चाहता है। कहीं काम से जाना है।

पर माँ जब कमरे में घुसी तो मधुकर को बड़ा आश्चर्य हुआ। माँ ने कहा—"मैं गंगा नहाने जा रही हूँ। आज अमावस्या है। अगर तू कहीं जाय तो चाभी लाला की दूकान पर देते जाना। मैं जाकर ले लूँगी।"

माँ चली गई। मधुकर ने सन्तोष की साँस ली। माँ के रहने पर मधुकर अपने को बड़े बन्धन में अनुभव करता है। तभी उसे याद आया आज हजामत बनालें। ताख पर से शेविंग का सामान उठाकर खिड़की पर रखा और अपनी मचमचाती पुरानी तिपाई उठाकर खिड़की के किनारे रखी और उसी पर बैठ गया।

वह दाढ़ी में साबुन लगाता जा रहा था और उसकी खिड़की के नीचे चबूतरे पर बैठा वह बूढ़ा अपनी टेर लगा रहा था।—"........ अब रैन कहाँ जो सोवत है।"

मधुकर बूढ़े की इस पंक्ति पर हजामत बनाना भूल गया। वह पुकार उठा—"कहो बुढ़ऊ, भोर तो अब हो गया।"

"अच्छा कवि महाराज ! आप, मालूम होता है, आज जाग गए।"

मधुकर को सभी तो कवि कहते हैं, पर वह कवि हुआ कैसे ? यही वह सोचने लगा। झट उसकी आँखों के आगे उसके वर्तमान से कुछ साल पहले के धुँधले, पर करीब करीब बड़े उज्ज्वल चित्र एक ही गोलाई में घूमने लगे। उसकी धारणा है कि कवि का जीवन किसी बगीचे का वह अधखिला फूल है जो किसी देवता के चरणों पर चढ़ने को पैदा होता है पर बिना खिले ही उसे तोड़कर चरणों तले बिछा दिया जाता है। और कुचले जाने पर उसका पराग जब सुगन्ध बनकर वायु में अपना अस्तित्व खो देता है तभी उसे एक क्षण को कुछ सन्तोष

होता है। कारण, वह समझता है कि उसने आत्म-समर्पण किया।

वह नादान यह भी नहीं देखता कि भला देवता ने उसकी यह दशा देखी या नहीं—और वह देखे भी क्यों! उसे तो एक साध थी—आत्म-समर्पण की—वह पूरी हो गई, बस।

पतिंगे दीपक की लौ में जल मरते हैं, सोचते नहीं कि दीपक उन पर खुश होगा। भक्त भगवान की भक्ति में अपने को गँवा देते हैं। किसलिए? उनका जो एकमात्र ध्येय है। बस वही—आत्मसमर्पण।

हाँ तो वह कवि बन गया है। दुनिया ने उसे कलाकार भी कहा है। पर वह तो केवल उसका दुखड़ा रोना है। उसने दुनिया की जवानी देखी है। उसे हँसते देखा है और देखा है उसकी रोती रातों को भी। उसने अब तक बाईस बसन्त देखे हैं—जब कोयल अपना गला फाड़ फाड़ चिल्लाई है। पर व्यर्थ है उसका चिल्लाना। कारण हर साल ही तो वह चिल्लाती है। पर भला कभी कुछ फल उसे मिला? उसने अब तक तो केवल व्यथा को हास्य में बदलना सीखा है। पीड़ा पाकर मुसकराना सीखा है। और इन्हीं उल्टी-सीधी अनभिज्ञताओं में वह अभी तक जो भी बटोर सका है, वही उसकी कला है—कविता है। वह भावुक है। वह जानता है कि जलते हुए दिल से धुँए के सिवा कुछ और निकलना असम्भव है।

जब मानव के अन्तर का आर्तनाद संयम का पुल लाँघ संसार के आँगन में थिरक उठता है, प्राणों की तह में दबी वेदना मचल उठती है, तो उसी को संसार कविता कह देता है।

मधुकर के हृदय की तह में भी कुछ ऐसा ही छिपा पड़ा

है। उसने लीला को प्यार किया था, केवल एक इच्छा लेकर। वह थी—आत्म-समर्पण। पर आज वह नहीं रही और न रहा मधुकर का प्यार भी। अब तो केवल भीतर का एक हाहाकार ही उसके चरणों को एक बार छूकर बिखर जाने को व्याकुल है। आत्मा का यह रुदन, यह हाहाकार, भावनाओं के साथ सदा ही अमर रहेगा।

अब उससे यह छिपाए नहीं छिपता। मधुकर चाहता है कि अपने भीतर की व्यथा वह किसी से कहे। हँसी की आड़ में अपनी तीखी/चीत्कार वह किसी को सुनाना चाहता है।

यौवन के प्रथम उफान में ही उसने लीला को हँसते देखा था। वह अकेला था तब—एकाकी! माँ के अतिरिक्त तब था ही कौन? जीवन के प्रभात में ज्यों ही जागकर उसने आँखें खोलीं कि लीला को सामने खड़ी मुसकराती पाया। गोरे चेहरे पर सावन-भादों की घटा जैसी डोलती लटें थीं। आँखों में था उमड़ता मस्ती का आलम और रक्त में गर्मी। बस वही लीला थी। दोनों थे पड़ोसी घर के—दिल के। आवेश में आकर एक दिन मधुकर ने लीला से पूछा था--"क्या हम लोग धोखा तो न खायँगे?"

"नहीं, हम लोग बेवकूफ नहीं हैं।"

पर विधि की विडम्बना से दोनों ही तो अनजान थे। दोनों बेवकूफ ही तो निकले। उनका पड़ोस बदल गया।

एक दिन मधुकर ने सुना, लीला की शादी आज तय होगी-शकुन चढ़ेगा। मधुकर भला क्यों विश्वास करता। अगर किसी धनी से कहा जाय कि आज तुम्हारा धन खो जायगा तो वह क्यों माने।

शाम को लीला मिली। मधुकर उसे कातर होकर निहार

रहा था। लीला ने कहा—"तुम्हीं बताओ न अब मैं क्या करूँ, पिताजी तो अपने ही मन की करेंगे।" पर मधुकर उसे कोई उपाय न बता सका, केवल बोला—"अच्छा खुश रहो! हमें मिठाई तो खिला ही देना।"

सहसा एक दिन प्रातः से ही शहनाई बजने लगी और शाम को खूब बाजे-गाजे, हाथी-घोड़ों से सजी बरात निकली। घोड़े पर चढ़कर अनजान दूल्हा आया और अपनी ही चीज की तरह लीला को सगर्व अपने साथ ले गया। मधुकर ने अनेक बार उससे मिलने की कोशिश की पर वह कुछ कर न सका।

घर जाने पर माँ ने कहा—"लीला आई थी, तेरी मिठाई अलग से तेरे कमरे में रख गई है।" मधुकर दौड़कर वहाँ गया। टेबुल पर सुन्दर से नए रेशमी रूमाल से ढकी तश्तरी में कुछ मिठाइयाँ रखी थीं। पास ही पड़े पैड पर जल्दी जल्दी काँपते हाथों कोई लिख गया था—"मैं अब चली। मिठाई माँगी थी न, सो रखे जा रही हूँ।"

मधुकर ने पढ़ा। पर मिठाई न खा सका। वह भला कैसे खायगा। लीला चली जो गई थी। अब वह फिर अकेला हो गया। पर यह अकेलापन सता रहा था, पहले जैसी मस्ती न थी।

मधुकर ने सन्तोष किया—"अच्छा हुआ चली गई।"

× × ×

मनुष्य के शरीर के भीतर भी तो एक मनुष्य है, अधिक बुद्धिमान, अधिक धैर्यवान और अधिक बली। संसार कहता है, खून का सम्बन्ध ही सब से घनिष्ठ है पर इससे भी घनिष्ठ सम्बन्ध दो अन्य नातों का होता है—मित्र का और स्त्री का। ये तो खून से सम्बन्ध नहीं रखते। एकाएक किसी घटना की भाँति ये मिलते हैं। उन्हीं दो तिनकों की भाँति जो नदी के बढ़ाव में नहरों के

प्रवाह से पता नहीं कहाँ से आकर मिल जाते हैं। पर शीघ्र ही दूसरी लहर के एक झोंके ही में इतने दूर हो जाते हैं कि यह कल्पना करना भी असम्भव हो उठता है कि वे कभी मिले होंगे।

बड़े बड़े पहाड़ जैसे कितने ही दिन काल की चाल में चल-कर पीछे छूट गए। रातें आतीं, वे भी खोती गईं। नित्य सन्ध्या होती—सुनहली सी, चाँदनी रातें होतीं—चाँदी सी, हँसता प्रभात होता—शिशु सा। पर मधुकर के मन की बात आती ही न थी।

सहसा एक दिन माँ ने कहा—"अरे मधुकर, कुछ सुना—लीला आई है। बेचारी का नसीब ही फूटा निकला।"

"क्यों क्या हुआ लीला को माँ?" उसका कलेजा धक् धक् करने लगा।

"बेचारी का पति मर गया—टी० बी० हो गई थी—उसे ससुरालवालों ने यहाँ भेज दिया है। दुखियारी का अब कहीं ठिकाना भी नहीं है।" कलेजा उसका निकल पड़ने लगा।

× × ×

इसके बाद तो लीला स्थाई रूप से वहीं रहने लगी थी। पर पता नहीं घर के किस कोने में रहती कि मधुकर उसे नहीं देख सका अभी तक।

अनायास ही एक दिन वह माँ के साथ आई। मधुकर सामने पड़ा, इसलिए मिल भी गई। मधुकर ने टोका—"कहो लीला, कैसी हो?"

उसने मधुकर की ओर ताका। हाय यह लीला थी—उसकी आँखों मे कैसी करुणा थी, कितनी याचना थी, कितना सूनापन था! बरबस उसने हँसना चाहा पर हँस न सकी। केवल दो

उज्ज्वल पानी की बूँदें आँखों की राह बाहर लुढ़क पड़ीं।

फिर कुछ देर बातें भी हुईं, इधर-उधर की ही।

लीला के जाने पर मधुकर ने सोचा—लीला कितनी बदल गई। मस्ती का आलम कहाँ छूट गया—क्या वह अब भी हँसना चाहती थी ? नहीं। लेकिन ये मेरी आकाँक्षाएँ अब तक मुझसे क्यों चिपटी हैं ?

दीपक देखने में सुन्दर है—अति सुन्दर, पर छूने पर कैसा लगता है, यह तो लौ का जला ही जान सकता है। और वैसे ही यौवन के मोहक आँचल में लिपटी लीला भी दीपक से अधिक ज्वालामई थी। परन्तु वह विधवा थी और उस ज्वाला से कई गुना गर्म। उसके रूखे बाल, पथराई हुई आँखें—भला इस ज्वाला को कौन सहता।

एक दिन मधुकर ने देखा-लीला अपनी खाट पर पड़ी आकाश में कुछ ढूँढ़ रही थी और गा रही थी—

"काली रातें रो रो कहतीं....,
जीवन नींद का सपना है।"

वह बेसुध थी। तन्मय हो गा रही थी। वैधव्य का यह रूप उससे देखा न गया। असमर्थ हो मधुकर आगे बढ़ा। वह दृश्य मधुकर सोच न सका कि क्या हुआ। उसका ध्यान टूटा। साबुन दाढ़ी पर ही सूख गया था। उसे लगा जैसे रेजर और दाढ़ी के चमड़े के बीच किसी जीवित शक्ति ने उसे झकझोर दिया है।

पानी लगाकर उसने फिर दाढ़ी गीली की पर शीघ्र ही उसके सामने पुनः लीला आने लगी। उसे याद आई वह सन्ध्या जब लीला उसके सम्मुख आकर खड़ी हो गई थी। उज्ज्वल साड़ी उसके यौवन को कोस सी रही थी। उसने कहा—

"मधुकर ! कुछ कहना है।"

"कहो न लीला !"

"मैंने जीवन में कभी कुछ नहीं कहा। केवल आज कहने आई हूँ। कह दो पहले ही कि निराश न करोगे।"

"कहो लीला ! निराश न होओगी।"

"अच्छा मेरा कहना मानो और कहीं चले जाओ। कुछ काल के लिए अलग हो जाओ। कहो चला जाऊँगा।"

"हाँ चला जाऊँगा, पर क्यों ? यह बता दो।"

"केवल इसलिए कि मैं विधवा हूँ। अगर सधवा होती तो अनेक पाप करने पर भी कोई मुझ पर उँगली न उठाता। पर विधवा के लिए केवल शक ही डूब मरने को काफी है, फिर पापी दिल पर किसी का अधिकार तो रहता नहीं।"

यह कहकर वह चली गई। और मधुकर—वह केवल छटपटाकर ही रह गया।

दूसरे ही दिन माँ से बहाने बनाकर वह दिल्ली चला गया।

मधुकर दिल्ली में दो साल तक रहा। हर महीने माँ की चिट्ठी में लिखकर आता था, लीला अब बीमार रहती है। बड़ी कमजोर हो गई है, आदि आदि।

पर बाद मे दो-तीन महीने तक कोई पत्र ही न मिला। फिर भी बहुत दिन बीत गए। पीड़ा का पक्षी तो उसने पाल ही लिया था। उससे छुटकारा न मिला। यद्यपि लीला से वह काफी दूर यहाँ आ टिका था फिर भी एक एक धड़कन के साथ टीस होती थी। पर पीड़ा का अभिसार अब भी धुँधला ही था। एक पत्र आया माँ का। लिखा था एक कोने में—"लीला बहुत बीमार है—बचेगी नहीं, बस एक-दो दिन की मेहमान जान पड़ती है।"

उसके लिए यह समाचार बिलकुल नवीन और बेचैन कर देने को काफी था। दूसरी ही शाम मधुकर घर को चल पड़ा।

× × ×

पहुँचा तो देर हो गई थी। लीला बहुत दूर चली गई थी। उसकी चिता धू धू कर रही थी। ऊँची ऊँची ज्वाला की लपटें आकाश छूने का व्यर्थ प्रयत्न कर रही थीं। और मधुकर के हृदय में तो उससे भी कहीं अधिक अग्नि जल रही थी। उसे लगता था कि उसके दिल की तड़पन के आगे ये लपटें कितनी क्षीण हैं!

खैर, लीला समाप्त हुई। उसका शरीर भस्म हो गया।

तो लीला चली गई। एकदम चली गई। जिसे वह पिछले उन्नीस सालों से बराबर आँखों की पुतली बनाए, सँजोए, था वही क्षण भर में लापता हो गई। पर मधुकर के हृदय में, आँखों में, वह पहले की ही भाँति सजीव थी।

लोगों से छिपाकर चुपके से उसने हाथों में थोड़ी सी राख उठा ली। तो क्या यही लीला का अवशेष है! यही तो सब का अन्त है। जब लीला जैसी कोमल फूल सी निधि की यह दशा हुई तो इस दुनियावालों का क्या? वह खड़ा रहा पागल सा, निस्तब्ध।

× × ×

कई दिन बीत गए। लीला तो चली गई पर मधुकर को सदा के लिए तड़पने को छोड़कर। एक दिन उसने तय किया कि उस शहर को छोड़ देगा। वह अपनी किताबें समेट रहा था कि कहीं बीच से एक नीले रंग का लिफाफा हाथों में आ

लगा। लिफाफे पर मधुकर का नाम लिखा था और बाईं ओर एक कोने में केवल 'लीला' लिखा था।

धड़कते दिल को दबाकर उसने पत्र खोला—पढ़ा—

"देवता,

आप मेरे कहने से चले तो गए पर अब मैं सोचती हूँ कि मैंने बुरा किया। पर जो हो गया सो तो हो ही गया, अब उसका कोई चारा नहीं।

हाँ मेरा दिल कहता है कि संसार की अब मैं कुछ ही दिनों की संगिनी रह सकूँगी। और यह बात मेरे दिल में पक्की होती जा रही है। यह पत्र इसी लिए लिख रही हूँ कि मेरे न रहने पर भी यदि आप इसे खोल लेंगे तो मुझे बुरी न कहेंगे कि आप को कुछ बताया नहीं।

मैंने जीवन भर दुःख पाया—यह आप से छिपा नहीं है। पता नहीं क्या बात है जो संसार का सब सुख होते हुए भी नारी सदा ही अपने में एक पीड़ा सी अनुभव करती रहती है। उसे वह निकालना भी तो नहीं चाहती। देखिए न मैं विधवा हूँ। फिर भी मेरे जीवन जी कली खिली और मैं उत्सुक थी किसी देवता को आत्म-समर्पण के लिए। यह धर्म के विरुद्ध था। मैं भी विवश थी।

संसार के किसी कण पर मेरा अधिकार नहीं है। फिर अगर किसी के हृदय को दो प्रेम की बूँदें लुढ़ककर मुझे अपने से मिला लेती हैं तो मेरा क्या दोष है इसमें! अगर किसी भिखारी को पैसा ही मिल जाता है तो वह खुश हो दाता को आशीर्वाद से लाद देता है और कभी सोना-चाँदी पाने की आशा नहीं करता। उसके प्रेम की वही चरम सीमा है। यही दशा मुझ भिखारिनी की है। मैंने जीवन में कुछ पाया नहीं,

सब खोया ही तो है। आप चाँद देखकर खुश होते थे, पर मैं दुखी होती थी। कारण, मैं आपको प्यार करती थी जो मेरे लिए पाप था।

अच्छा तो मुझे क्षमा कर देना—जो भी मुझसे ऊँच-नीच हुआ हो। प्रेम की साधना में असफलता ही सब से बड़ी विजय है। मैंने तो यही जाना है—

शायद आपके दर्शन न कर सकूँगी, दिल यही कहता है।

बिदा—बहुत कष्ट है!

चरणों में—

लीला का जीवन"

पत्र पा वह बड़ा प्रसन्न हुआ। लीला के मरने का उसे कुछ दुःख अब नहीं है। कारण उसने प्रेम का बदला प्रेम से दिया। अब उसके जीवन में, प्राणों में, धड़कन में, कविता में, गीत में—प्रकाश उसी का होगा—छाया उसी की होगी।

तभी माँ ने आकर मधुकर को जगाया। बारह तो कभी बज गए थे। अब दो बजने को थे। झट झट वह दाढ़ी पर साबुन रगड़ने लगा। माँ ने समझा अभी कहीं से लौटकर आया है, अब नहायगा। और सचमुच ही तो वह अभी कहाँ कहाँ था। वह तो लीला के साथ जीवन-लीला में खोया था।

अब मधुकर कवि हो गया। जब हृदय में टीस होती है, करुणा जगती है, तब वह कुछ लिखने लगता है—यही उसकी कविता है।



उजाले में अँधेरा

११

साल में एक बार दिवाली मनाई जाती है। यह दिवाली का दिन ही ऐसा है, चाहे अमीर हो चाहे गरीब सभी खुश होते हैं। रात को घर की छतों को असंख्य दीपों से सजा देते हैं।

सो आज साल भर का यह त्योहार दिवाली है। पर मोती को इस दिवाली के आने का कोई हर्ष नहीं है! न जाने क्यों इस मामले में वह दुनिया से अलग है। बल्कि सच तो यह है कि यह सोचकर कि आज दिवाली है, वह व्यथित होने लगता है। बात ही कुछ ऐसी है।

यह मोती! इसके जीवन का पथ बड़ा बीहड़ रहा है। अपने चारों ओर इसने सदा भयानक तूफान का ही अनुभव किया है। दुनिया इसे अन्धकारमय मालूम होती है और जब इतने साल इसने अन्धकार में काट दिए तो क्या एक दिन के लिए यह दिए जलाए ?

यह सोचकर कि आज दीपावली है, मोती के आगे जीवन के कुछ चित्र खिंच गए। आज वह पैंतीस साल का है। कथा शुरू होती है जब वह केवल उन्नीस साल का था—बी० ए० का विद्यार्थी। बगल के खाली मकान को एक गार्ड साहब ने जिस दिन आबाद किया, मोती को प्रसन्नता हुई थी। उस दिन भी ऐसी ही दिवाली थी। मोती की खुशी का ठिकाना न था। उसने दिए जलाकर सारा घर उजाले से जगमगा दिया था। उस छोटे से परिवार के सभी लोग मोती को अच्छे लगे थे। गार्ड साहब की पत्नी! मोती को उन्हें देख-कर अपनी स्वर्गीय माता की याद आ जाती थी। माँ की ही तरह उनके भी आगे के दो दाँत गायब थे। हँसने पर माँ की ही तरह उनके भी गालों पर दो बड़े बड़े गड्ढे पड़ जाते थे। सो वे बिलकुल वैसी ही थीं। गार्ड साहब की दोनों लड़कियाँ! शीला छोटी थी—कितनी चंचल थी। वह छै साल की छोकरी कितनी चतुर थी। अपना-पराया उसे खूब आता था। और लीला! गार्ड साहब की बड़ी लड़की। वह सत्रह साल की थी। कितनी शर्मीली। उसी को देखकर मोती अधिक खुश होता था। उसका यौवन, मस्ती की एक लाली जो सदा उस पर छाई रहती थी, शर्मीला स्वभाव, ये सभी बातें मोती को बरबस ही अपनी ओर खींचे रहा करती थीं।

उसे याद है वह दिन। उसे पूरा एक सौ चार डिगरी बुखार था। कमरे में पड़ा वह दर्द से कराह रहा था। भाभी भी मायके चली गई थीं। तब गार्ड साहब की पत्नी ने, उनके परिवार ने, लीला ने, शीला ने उसकी कितनी सेवा की थी। उस सेवा को क्या मोती कभी जीवन में भूल सकता था? गार्ड साहब की पत्नी घर के कामों से छुट्टी पाकर अधिक समय

मोती को ही देतीं। और लीला! उसकी एक बात उसे अब भी याद है। उसका केवल एक बार सिर पर हाथ रख देना सारी पीड़ा हर लेता था। हाय! बेचारी ने कितनी सेवा की थी। कोई बिलकुल अपना ही ऐसी सेवा कर सकता है।

मोती को बिलकुल याद है।

डाक्टर देखकर अभी अभी गए थे। सिर पर हाथ रखकर लीला ने कहा था—"आज आपका बुखार फिर तेज हो गया।"

"हाँ लीला! शायद अब मैं अच्छा न होऊँगा। इतनी कड़ी बीमारी आदमी को मारने ही को तो होती है।"

"आप कैसी बातें करते है? शीघ्र ही अच्छे हो जायँगे।"

लीला का गला भरा था। मोती ने ऊपर आँखें उठाकर देखा। उसकी आँखें भरी थीं और क्षण भर बाद दो बूँद आँसू भी लुढ़के थे, उसके गालों पर।

"पगली रोती क्यों है?"

".........।" लीला चुप! अगर सचमुच मोती न अच्छा हुआ तो?

लीला कितनी पागल है? भला मोती अच्छा हो या न हो, उसे क्या? किसी के अच्छे होने या न होने से उसे मतलब? पर इसका कोई उत्तर नहीं।

लीला मोती से प्रेम करती थी। सदा अपने मन में मोती का चित्र खींचा करती थी और जो किसी के मन में इतना उतर चुका हो उसका बुरा वह अपने सामने कैसे देखे?

"तो क्यों रोती हो लीला! मेरी बीमारी पर! पर तुम क्यों परेशान हो? मैं अच्छा होऊँ, न होऊँ?"

"क्यों?"

"तुम्हारी शादी जो तय हो रही है। अगर हो गई तो तुम

हमसे दूर हो ही जाओगी। फिर ससुराल के व्यस्त जीवन में भला तुम्हें मेरे विषय में सोचने का अवसर भी मिलेगा ?"

"पर मैं शादी नहीं करूँगी !"

'धत् पगली ! भला इसमें तेरा क्या बस ! तेरी शादी होकर रहेगी !"

और वही हुआ भी।

मोती और लीला परस्पर प्रेम करते ही रहे और लीला को दूसरे की हो जाना पड़ा। उसे मोती की ओर देखने भी न दिया गया।

उस वक्त मोती बनारस में था। उसका यह फाइनल इयर था। अगले साल उसे किसी कालेज में प्रोफेसरी मिल जायगी। वह सोच रहा था कि जहाँ भी वह प्रोफेसर होगा लीला से शादी करके अपने साथ रखेगा। तभी भाभी के पत्र से पता लगा कि लीला का ब्याह होनेवाला है।

पर मोती कर ही क्या सकता था ? शादी तो होगी ही। केवल मन मसोसकर रह गया। उसका बस चलता तो कलेजा निकालकर फेंक देता ताकि यह चुभन न हो, पर वह विवश था।

लीला ! पत्थर की लकीर सी वह उसके मन पर अंकित हो चुकी थी। पर लीला की यह लीला ! वह कुछ एकबारगी निश्चय न कर सका।

भाभी के दूसरे पत्र से पता लगा कि लीला की शादी हो गई और वह ससुराल चली गई।

इस बात को आज बहुत दिन बीत गए। सोलह दिवालियाँ बीत गईं। वह अपना हिसाब दिवाली से ही रखता है। कारण, दिवाली को ही गार्ड साहब उस घर में आए थे और तभी से

उसने इन वर्षों को जोड़ना शुरू किया था। तब और अब !

कितना अन्तर हो गया है! जीवन से उसे कोई मोह नहीं रह गया है। संसार में सभी कुछ उसे क्षणिक और झूठा प्रतीत होता है। अब वह यहीं के महिला-विद्यालय में अध्यापक है।

तनख्वाह गुजर भर को अच्छी ही मिल जाती है। फिर कौन कहे कि उसे पत्नी है, दो-चार बच्चे हैं या लम्बी सी गृहस्थी है जो अधिक रुपयों की आवश्यकता हो। अकेला तो प्राणी है। जो भी मिल जाय, ठीक है। एक डाक्टर साहब के यहाँ वह ट्यूशन करता है। लड़की का नाम प्रमीला है और वह नवें क्लास में पढ़ती है। प्रमीला को छोड़कर वह और कहीं ट्यूशन नहीं करता। न जाने कितने लोग खुशामद करते हैं। प्रमीला से वह बहुत स्नेह करता है। न जाने क्यों कभी कभी प्रमीला को देखकर उसे लीला की याद आ जाती है। लीला और प्रमीला के चेहरे मे उसे बहुत अधिक समानता मालूम होती है। अभी केवल दो ही महीने से वह उसे पढ़ा रहा है पर उसे अपनी ही लड़की के समान उस पर भी प्यार हो गया है। उसने सुना कि पिछली दिवाली के दिन प्रमीला की माँ मर गई थी। यह दिवाली है ही ऐसी। मोती अपने कई मित्रों और परिचितों को जानता है जिनके लिए दिवाली सदा खोटी रही है।

आज दिवाली है,मोती अपने कमरे में उदास पड़ा कल्पनाओं का जाल बुन रहा था। तभी मेज पर पड़े डाक्टर साहब के पत्र को देखकर उसे याद आ गया।....आज डाक्टर साहब के यहाँ खाना खाना है। प्रमीला की माँ की बरसी है।

नियत समय पर मोती डाक्टर साहब के यहाँ पहुँचा। प्रमीला द्वार पर ही खड़ी थी। मोती बरामदे में आकर कुर्सी पर

बैठ गया। प्रमीला ने कहा—"मास्टर जी, आज भीतर चलिए, वहाँ पिताजी वगैरह भी हैं।"

मोती भीतर के कमरे में पहुँचा। डाक्टर साहब आदि वहाँ थे। मोती एक कुर्सी पर बैठ गया। कमरा खूब सजा था। एक एक करके उसने कमरे की हर वस्तु का निरीक्षण किया। एकाएक उसकी दृष्टि खिड़की के ऊपर टँगे बड़े चित्र पर अटक गई। मानो वह उसे कुछ पहचान गया। दिल उसका धक् धक् करने लगा। यह किसका चित्र! लीला का यह चित्र यहाँ कैसे आया?

लोगों के जाने पर उसने प्रमीला से पूछा—"यह चित्र किसका है प्रमीला?"

प्रमीला की आँखें छलछला आईं, गला भर आया।—"मेरी माँ......।"

"क्या?"

"..........."

मोती को न जाने कैसा लगा। "तो क्या वह लीला की बरसी में खाना खायगा?" उसका सिर घूम गया।

व्यथित होकर वह उठ खड़ा हुआ।

"मास्टर जी!"

"हाँ, मैं अभी आता हूँ।" कहकर वह बाहर चला।

प्रमीला ने पीछे से पुकारा—"मास्टर जी, आपकी छड़ी।"

"अभी आया।" और वह तेजी से घर की ओर चला।

रात हो चुकी थी। रास्ते में लोगों ने असंख्य दीप जलाकर अपने अपने घरों को प्रकाशमय किया था लेकिन मोती के लिए यही प्रकाश अंधकारमय सिद्ध हुआ।

दीपावली के ये दीप मानो मोती की हँसी उड़ा रहे थे।

मोती का कलेजा टूटा जाता था।

वह क्यों भागा०

१२

रात होते न होते यह बात गाँव भर में फैल गई कि जयराम धनिया को छोड़कर भाग गया। कहाँ? इसका किसी को पता न था। पहले तो लोगों ने बात झूठ मानी, पर पीछे तो सब को सच माननी ही पड़ी। गाँव में कुछ ने कहा कि जयराम का यह दुर्व्यवहार क्रूरता की सीमा लाँघ गया। कुछ ने निर्णय किया कि नहीं—धनिया की ही कुछ खोटाई अवश्य रही होगी, वर्ना क्या कोई अपनी मेहर भी छोड़ देता है? और फिर धनिया जैसी!

अपने अपने दृष्टिकोण से सभी ठीक थे। गाँव भर में जयराम और धनिया आदर्श पति-पत्नी माने जाते थे। आश्चर्य अधिक इस बात का था कि धनिया को जयराम अत्यधिक प्यार करता था। और धनिया? पति की उतनी सेवा इस कलियुग में कौन करता है!

गाँव की बुढ़ियों ने अन्दाज लगाना शुरू किया।

पहली—कहीं कोई जानवर जंगल में तो नहीं उठा ले गया!

दूसरी—कहीं किसी से लड़ाई तो नहीं हुई कि सिपाही पकड़ ले गया हो!

तीसरी—कैसी बात करती हो? वह भला क्यों किसी से लड़ने लगा? शायद लड़ाई में भर्ती हो गया हो!

चौथी—धत्! धनिया को छोड़कर वह सरग भी नहीं जा सकता। जरूर किसी ने जादू-टोना कर दिया होगा और वह पागल होकर कहीं चला गया होगा!

पाँचवीं—जरूर यही बात है, क्योंकि धनिया कहती थी कि जब वह घर से शाम को निकली थी तो वह घर ही में था और आधे घंटे बाद जब वह आई तो वह घर से बाहर निकल रहा था। धनिया ने उसे बहुत पुकारा, कुछ दूर पीछे पीछे भी गई पर उसने घूमकर भी न देखा। ऊबकर धनिया लौट आई और सोचा कि आप ही घंटे दो घंटे में आ जायँगे। हाँ, वह यह भी कहती थी कि एक अजनबी का छोटा सा डंडा और फटा अँगौछा उसे खाट पर पड़ा मिला, पर वह किसका था, यह पता नहीं। न उनके मालिक को धनिया ने देखा ही।

इतना सुनते ही एक बुढ़िया, जिसके बाल सब बुढ़ियों से अधिक सफेद थे और जो जरा कर्कशा भी थी, सिर हिलाकर बोली—"तब तो हम जान गए कि क्या बात थी। अवश्य ही अजनबी धनिया का कोई प्रेमी था। जयराम की उससे कुछ बात हुई होगी और ग्लानि से भरकर वह भाग गया होगा। आजकल की सभी औरतों का यही हाल है। किसी पर विश्वास करना गलती है।" पाँचों उँगलियाँ फैला और हाथ

चमका चमका वह बुढ़िया कहती ही जा रही थी—"हम लोग भी कभी थे, पर ऐसा तो कभी नहीं......।"

"क्या तुम्हें कुछ सुझाई भी पड़ता है? धनिया में ये लक्षण नहीं हैं।" एक औरत बीच में ही बोल उठी।

बुढ़िया को यह असह्य हो उठा। भला उसकी बात कोई काट दे! वह उबल पड़ी।

"हमसे कागज पर लिखा लो। जो यह बात पीछे सच न निकले तो हमें गाँव से निकाल देना।"

और उसे झूठी कहने का भी तो किसी में साहस न था।

पर बात कुछ और ही थी। धनिया की दो शादियाँ हुई थीं। पहली शादी हरखू से हुई थी। जाति की वह कहारिन है। और यहाँ की यह रीति है कि अगर औरत अपने पति को छोड़ना चाहे तो पति को दूसरी शादी का खर्च देकर वह अपना नाता तोड़ सकती है। चाहे तो दूसरा विवाह भी कर सकती है। पहले पति को बोलने का कोई अधिकार न होगा। छोटा नागपुर की निम्न जातियों में यह प्रथा अब भी प्रचलित है।

हरखू गाँव के जमीदार की हवेली में खिदमतगार था। धनिया से शादी हुए अभी कुछ महीने हो हुए थे। लड़का-बाला भी नहीं हुआ था कि जमीदार का परिवार कलकत्ते चला गया। हरखू को भी साथ जाना पड़ा। जमीदार का परिवार छै महीने बाद लौटा, पर साथ में हरखू न था। पूछने पर पता लगा कि महीनों हुए वह मोटर से दबकर मर गया। पर बात यह थी कि कलकत्ते में एक दिन हरखू ने अपने मालिक के यहाँ से पाँच रुपए का नोट चुराया। कई दिनों से अँगरेजी शराब पीने का उसका मन हो रहा था। पाँच रुपए चुराकर उसने

बढ़ियाँ अँगरेजी शराब की आधी बोतल खरीदी और सब चुप-चाप साफ कर गया। किसी को कानों-कान खबर भी न लगी। शराब पीकर जब मस्त हुआ तो उसके मस्तिष्क में एक विचार आया कि अँगरेजी शराब जिसे उसने आज पीया है उसे तो केवल साहब लोग पीते हैं। और हरखू ने जब वही साहबवाली शराब पी तो वह भी साहब से कम नहीं है। क्या हुआ जो उसके पास कोट-पतलून नहीं हैं! वह साहब अवश्य है।

बात भी ठीक थी और इसी झोंक में वह एक रिक्शावाले से लड़ गया। रिक्शावाले ने उसे गाली दी, फ़लस्वरूप हरखू ने एक ईंटा उठाकर उसका सिर गुलगुला कर दिया। हरखू को पुलिस पकड़ ले गई। रात थी, इसलिए सीधे हवालात में बन्द कर दिया। रिक्शावाले को चोट खूब लगी थी। पुलिस ने हरखू पर मुक-दमा दायर किया। बात जमीदार के पास भी आई। पर वे कान में तेल डाले पड़े रहे। उन्होंने हरखू की कुछ भी मदद न की। उसे दो साल की सख्त कैद हुई। वह जेलखाने चला गया।

गाँव में जमीदार साहब ने प्रचार कर दिया कि वह मोटर से दबकर मर गया। लोगों ने उनकी बात मान ली और न मानने की कोई वात भी न थी।

धनिया ने सुना तो वह रोई और खूब रोई। पर गाँव के पंचों ने उस के इस दुःख को दूर करने का उपाय कर दिया। एक दिन पंचायत बैठी। गाँव के कई मसले सामने रखे गए। उन पर विचार हुआ। पर एक मामला बड़ा टेढ़ा था। वह था इसी धनिया का। अब तक तो वह ठीक थी, पर हरखू के मरने के बाद उसके चालचलन पर लोगों को सन्देह होने लगा। गाँव

के कई छोकरे आज-कल उसके पीछे मँड़राया करते हैं। सुखऊ के बेटे जयराम और धनिया का सम्बन्ध तो सभी को मालूम है।

विषय सचमुच जटिल था। प्रौढ़ पंचों ने सोचा कि इसमें शक नहीं कि धनिया जवान है और उसकी जवानी को मर्यादित रखने के लिए एक आदमी की आवश्यकता है। अगर इसका कुछ इन्तजाम न होगा तो रोज ही गाँव में लाठियाँ चलेंगी। धनिया सुन्दर है, जवानी का जोम है, ऐसी हालत में सब कुछ सम्भव है।

सो थोड़ी देर की बहस ने यह तय किया कि अगर सुखऊ चाहें तो जयराम का ब्याह धनिया से कर दें। सुखऊ के आगे यह बात गई।

सुखऊ ने भी सोचा कि जयराम सचमुच आजकल बहका हुआ है, न जाने कब क्या उपद्रव खड़ा कर दे, तो उसकी शादी धनिया से हो जानी ही ठीक है। फिर धनिया भी तो उसी की जाति की है। कोई हानि नहीं है। अन्त में यह निश्चय हो गया कि जयराम से धनिया ब्याह दी जाय। पर सुखऊ उसे अपने घर में न रखेगा। जयराम अलग मकान बनाकर तब उसे लाएगा।

जयराम को भला क्या आपत्ति होती! घर बनाकर उसने धूमधाम से धनिया से शादी की और धनिया की माँग पुनः एक बार सेन्दुर से लाल हो गई।

पर एक बात थी। धनिया के दिल में कभी कभी न जाने कैसा होने लगता और वह यह खयाल करती कि हरखू अभी मरा नहीं है। वह अवश्य ही जीवित है। एक दिन उसने जयराम से कहा भी कि कहीं वह आ गया तो?

"तो क्या ? बीस-पचीस, तीस-पैंतीस, जितना रुपया वह चाहेगा उसे दे दिया जायगा।" जयराम ने कहा।

धनिया को बात जच गई।

शादी के बाद से धनिया और जयराम का जीवन बड़ी अच्छी तरह बीतने लगा। इसकी आशा किसी को भी न थी। सभी ने समझ रखा था कि धनिया अब बदचलन हो गई। पर जयराम के प्रेम ने उसे बाँध दिया था और गाँव के पुरुषों का विचार था कि जयराम का भाग्य बड़ा प्रबल है जो धनिया जैसी स्त्री उसे मिली। जयराम पास के जंगल के ठीकेदार का जमादार था। पाता था वह केवल दस रुपया जो उसके लिए काफी भी था। पर जयराम दुनियादारी में अभी जरा कच्चा था। अगर धनिया योग्य न होती तो वह अब तक चौपट हो गया होता। उसको तमाखू और बीड़ी की बड़ी बुरी लत पड़ गई थी। धनिया ने बीड़ी तो एकदम छुड़ा दी पर तमाखू अब तक आठ आने महीने की खर्च होती थी। किन्तु इतना ही सुधार सन्तोषजनक था।

हाँ, अब जयराम जरा शौकीन अवश्य हो गया है। बुध को यहाँ का बाजार लगता है। सो हर बुध को वह काम पर नहीं जाता था। सुबह ही नहा-धोकर बालों में कड़ुआ तेल लगाकर साफ कपड़े पहनता था और दोपहर होते होते छैला बन जाता था। फिर धनिया को भी अपनी पसन्द की धोती पहना कर दो बड़े बड़े अँगौछे बाजार से सामान लाने को लेकर बाजार चलता। रास्ते भर वह सीना फुलाए, गर्दन ऊँची किए, बगल में धनिया को लिए, इस शान से चलता था मानो कलकत्ते की चौरंगी पर कोई अँगरेज दम्पति हों। गाँववाले देखते तो एक बार अवश्य मुसकरा देते। पंचों ने अच्छा ही फैसला

कर दिया। वर्ना यही जयराम न जाने क्या क्या गुल खिलाता। बाजार में दिन भर वे अपनी पसन्द की और आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदते। फिर जयराम आधे घंटे के लिए धनिया को छोड़ देता। तब तक वह चूड़ियों आदि की दूकान पर बैठी रहती। कुछ तो सचमुच खरीदने की इच्छा से और कुछ दूसरे गाँव की अपनी सखियों से मिलने के लालच-वश।

आधे घंटे बाद जब जयराम लौटता तब उसको एक बोतल का नशा होता। धनिया समझ जाती। पर जयराम की इस आदत को वह छुड़ा न सकी थी। हर बुध को वह एक बोतल शराब पीता था। इसमें नागा नहीं हो सकता था। आते ही धनिया मुँह बनाकर कहती—"पी आए न! नहीं तबीअत मानी।"

"आज भर। फिर कभी पीऊँ तो दो जूते मारना, आज बुध था न।" गिड़गिड़ाकर पूरे नशे में चूर वह कहता।

इसके बाद दोनों घर की ओर चलते। थोड़ी ही दूर चलने के बाद जयराम के पाँव डगमगा जाते, फिर उसे धनिया का सहारा लेना पड़ता। धनिया भी सीधी ही थी जो इस परिश्रम को भी बिना किसी विचार के सह लेती। बाजार में खरीदे हुए सारे सामान को धनिया और जयराम बाँटकर आधा आधा ले लेते थे। पर जब जयराम को नशा चढ़ता तब धनिया को उसका भी सामान अपने ऊपर लाद लेना पड़ता।

थोड़ी दूर और आगे चलने पर जब नशा जरा जोर पकड़ता तो ताव में आ वह आज के युद्ध की बड़े कटु शब्दों में आलोचना करता। चीजें आजकल कितनी महँगी हो गई हैं और इतनी महँगी पर भी तो दूकानदार उसे अच्छी तरह चीजें छाँटने-

बिनने नहीं देते। दूकानदारों के विषय में उसके विचार बड़े गन्दे थे। एक बात और, वह हर बुधवार को दुहराता कि ये दूकानदार बड़े नीच हैं। औरतों के हाथ सौदा बेचने में ये मर्दों की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी लेते हैं। मर्द ग्राहकों को ये बड़ा भोंदू और कंजूस समझते हैं। सौदा तय हो जाने के बाद भी ये औरतों को चार चीजें और दिखाने को उत्सुक रहते हैं, जब कि मर्दों से ये बातें भी करना पसन्द नहीं करते। अवश्य ही इनकी नीयत में खुटाई रहती है।

पर धनिया के लिए उसे कुछ भी परवाह न थी। वह बड़ी कंजूस थी, इसे वह भलीभाँति जानता था। धोबी को वह कभी कपड़े नहीं देती! स्वयं साफ कर लिया करती और धनिया के लिए उसे यही धोबीपने का काम बड़ा बुरा और घृणित मालूम होता। इसके अलावा धोबी की तरह कपड़े साफ भी तो नहीं होते। एक दिन चिढ़कर उसने धनिया से कहा भी—

"इतनी कंजूसी किस काम की! बुधुआ पैसे में दो कपड़े तो धोता है, क्या हुआ जो उसे भी हम चार पैसे हफ्ते दे दिया करें! तुम क्यों व्यर्थ ही मिहनत कर के मर रही हो। इतनी मिहनत करने से तन्दुरुस्ती पर भी तो असर......।"

इतना सुनते ही धनिया भस्म हो जाती और ताने के स्वर में कहती—"हाँ, हाँ! तुम्हें हमारे स्वास्थ्य का जैसा खयाल है, हमें मालूम है!"

"तो क्या मैं बातें बना रहा हूँ?" जयराम पूछता।

"और नहीं तो क्या। मेरे सामने भी झूठ बोलते तुम्हें शरम नहीं लगती। मैं तुम्हारी नस नस पहचान गई हूँ। दिन भर काम किया करती हूँ और ऊपर से इस प्रकार बातें सुनाते

हो। मैं तो तुम्हें मुफ्त में मिल गई। अगर कुछ परेशान होते तो पता लगता।"

"अच्छा तो तू ने हमें कम परेशान किया है! रात रात भर घर के पिछवाड़े खड़ा हो सीटी बजाया करता था, क्या वे दिन बिसर गए? ये औरतें......।" जयराम के इन शब्दों में जरा दृढ़ता होती।

धनिया को सचमुच वे दिन याद आ जाते। मुसकराकर रह जाती।

इस प्रकार साल भर बीत गया। जयराम को केवल एक दुःख था कि अभी तक उसके कोई बेटा नहीं हुआ। उसकी इच्छा थी बाप बनने की। पर इस विषय को वह भगवान की कृपा समझता था। गाँव की औरतें कभी कभी चर्चा भी करतीं।—न जाने धनिया कैसी औरत है। न तो इसे पहले मर्द से ही कुछ हुआ और न दूसरे मर्द से ही। विवाह हुए साल भर हो गया, पर अभी तक कोई लक्षण भी नहीं है। अवश्य ही यह बाँझ है। पर धनिया इससे दुखी नहीं थी। कारण अभी तक उसे इसकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई थी।

एक दिन शाम के समय जब धनिया सत्तू पीसने अपने पड़ोसी के यहाँ गई तो पड़े पड़े जयराम का जी ऊबने लगा। कमरे में चारों ओर उसने दृष्टि दौड़ाई। बाहर बरामदे में उसे वे कपड़े सूखते दीख पड़े जिन्हें कल के लिए साफकर धनिया ने डाला था। उन्हें देखते ही उसके अन्दर एक दुष्ट भावना जागी। उसने सोचा, चलो इन्हें फिर गन्दा कर दें, तब ये धोबी के यहाँ जा सकेंगे। यह विचार आते ही वह उठा और उस ओर चला। पर किसी अज्ञात अंकुश ने उसके ऊपर प्रहार किया। वह रुककर खड़ा हो गया। दूसरे ही क्षण दिल में

हुआ—आज कमरे की सफाई की जाय और वह उसी में जुट गया। कमरे में फैली वस्तुएँ उसने करीने से रखीं। खाट पर पड़े गन्दे और गूदड़ बिछौने को सजाया। फिर कमरे भर में झाड़ू देने लगा। तभी उसे याद आया कि बाहरवाला दरवाजा खुला है। इसे वह सदा ही चिन्ता की बात समझता है। दरवाजा खुला रहने से बाहर के लोग भीतर की वस्तुओं का आभास पाते हैं, इससे घर की प्रतिष्ठा घटती है। यह सोच दरवाजा बन्द करने वह बाहर आया। बन्द करते समय उसने एक बार झाँककर सड़क की ओर देख लिया।

उसने देखा कि एक आदमी सड़क पर टहल रहा था और रह रहकर वह विचित्र रूप से उसके घर की ओर देख लिया करता था। देखने से स्पष्ट पता लगता था कि वह बड़ी दूर से थका-माँदा आया होगा। उसके शरीर पर अजीब भयानक कपड़े थे। जयराम को देख वह इधर बढ़ आया और पूछा—"क्या धनिया इसी मकान में रहती है?"

एक मिनट तक जयराम उसे घूरता रहा। इस प्रकार किसी के दरवाजे पर जाकर स्त्री का नाम लेकर पुकारना उसे असभ्यतापूर्ण मालूम हुआ। ऐंठकर वह बोला—"क्या?"

"अरे वही जिसकी दूसरी शादी हुई है! शायद जयराम से।"

उसके कहने का ढंग जयराम को बिलकुल बुरा मालूम हो रहा था। उसने उत्तर दिया—"नहीं, वह अभी नहीं है।"

"जयराम तो शायद तुम्हीं हो?"

"हाँ, पर हम तुम्हें नहीं पहचानते।"

क्षण भर आगन्तुक मुँह सिकोड़े खड़ा रहा, फिर बोला—"ठीक है भाई, तुम हमें क्या जानो। गाँव में रहकर भी हमारा

तुम्हारा परिचय न था। अभी कुछ ही समय से तो हमारी तुम्हारी रिश्तेदारी हुई है।"

"रिश्तेदारी! कैसी रिश्तेदारी? कौन होते हो तुम मेरे?"

मुँह सिकोड़कर आगन्तुक बोला—

"अभी बताऊँगा। यार! वाकई तुम इस लायक थे, तभी तो उसने तुमसे शादी की।"

जयराम ने गौर से देखा। शायद यह कोई पगला है। वह दरवाजा बन्द करने लगा। पर आगन्तुक ने अपना पाँव चौखट के भीतर रख दिया और एक हाथ दरवाजे से लगाकर कहा—"यार, इतनी जल्दबाजी मत करो। हम कुछ चुरायँगे नहीं। तुम्हीं से बातें करने तो इतनी दूर से आए हैं, समझे?" उसने फिर मुँह चमकाया। शायद ऐसा करने की उसकी आदत थी।

जयराम को यह सब बड़ा बुरा लगा। अब तो वह दरवाजा भी नहीं बन्द कर सकता था। परेशान होकर उसने पूछा—"पर तुम चाहते क्या हो?"

"भाई, हमीं हरखू हैं, हरखू! मैं मोटर से कचर के मरा नहीं। मैं तो जेलखाने की रोटी खाने गया था। अब अपनी स्त्री से भेंट करने आया हूँ।"

जब वह यह सब कह रहा था, जयराम का चेहरा बेतरह पीला होता जा रहा था। कभी वह शंकित दृष्टि से हरखू को देखता, कभी बाहर के गाँव को।

"मैं धनिया को देखने आया हूँ।" अजनबी ने पुनः दुहराया। "पर तुम परेशान क्यों होने लगे?"

बिना कुछ उत्तर दिए ही उसे लेकर जयराम भीतरवाले कोठे में गया, जिसको अभी अभी उसने सफाई की थी। दरवाजा

उसने भीतर से बन्द कर लिया। इस समय हरखू को देखकर वह परेशान हो उठा था। यदि यह सचमुच हरखू ही हो तो? धनिया पर पहले इसी का अधिकार है, फिर मेरा। अगर अपने साथ यह धनिया को लिवा जाना चाहेगा तो भला यह कैसे हो सकेगा? और कहीं धनिया स्वयं चलने को तैयार हो जाय तो? तो वह कैसे रोक सकेगा? ये सभी प्रश्न एक साथ उसके दिमाग में घूम गए।

जयराम को परेशान देख हरखू ने उसके कन्धे को थपथपाते हुए कहा—"पर भाई, वह कब तक आवेगी?"

"आधे घंटे में।" अनायास ही उसने उत्तर भी दे दिया।

भीतर आकर हरखू ने गौर से चारों ओर देखा, फिर एकाएक चीख पड़ा—"अरे तुम तो बड़े सुख का जीवन बिताते हो। यह देखो खाट, ये कपड़े! कपड़े! इन्हें शायद वही साफ करती होगी। मैं जानता हूँ वह कैसी कंजूस है। है न?"

कपड़े की बात से जयराम की देह शरम से जल गई। बात बदलने को उसने पूछा—"भाई! कहो तमाखू लाऊँ?"

"तो क्या वह तुम्हें तमाखू के लिए मना नहीं करती?" हरखू ने मुँह चिढ़ाकर कहा।

जयराम को और गुस्सा लगा पर अचानक ही उसने सिर हिलाकर उत्तर दिया, "नहीं।"

"तो शायद यही एक बदलाव उसमें हुआ है।" हरखू ने फिर मुँह बनाया।

क्षण भर दोनों शान्त रहे। फिर जयराम की ओर गौर से देखकर हरखू ने कहा—"भाई हमें तुम बड़े अच्छे आदमी लगे। इसी लिए मैं अधिक कुछ न कहूँगा और पचास रुपए पर

मामला साफ कर दूँगा। वर्ना जानते हो कि धनिया पर पहला अधिकार मेरा है।" हरखू ने यह बात जरा साधिकार कही।

जयराम के पास पचास रुपए भला कहाँ से होते। एक एक कौड़ी का तो हिसाब सदा ही धनिया लिया करती थी। सो घबड़ाहट में आ उसने कह दिया—"भाई, तुम्हारा अधिकार है तो ले लो धनिया को। मैं दूसरा इन्तजाम कर लूँगा।"

"भाई, तुम बड़े भले हो और सीधे भी। इसलिए मैं कुछ कम कर दूँगा। चालीस ही सही। वर्ना मैं अपना अधिकार न छोड़ूँगा।"

जयराम कुछ और करने जा रहा था कि उसने फिर कहा—(इस बार वह बड़ा उदार हो गया था) "इतने दिन जैसे मुँह न दिखाया वैसे ही फिर कभी न दिखाऊँगा। जाओ, केवल तीस पर ही मामला खत्म, नहीं तो अब तुम जानो। मैं तो दुनिया के किसी कोने में भी रह सकता हूँ। तीस बहुत कम हैं। और हम झूठ भी नहीं कह रहे हैं। मरद की जबान है। सोलहो आने खरी, न पाई कम, न पाई ज्यादा। पत्थर की लकीर है, न तिल भर इधर, न उधर।"

मुँह बाए जयराम यह सब सुनता रहा। समझ में उसके थोड़ा ही आया। उसने मन में सोचा कि पहले के पति-पत्नी तो यही हैं, मैं तो बीच में कूद पड़ा। अब अधिक बाधक होना अच्छा नहीं। उसने स्पष्ट कहा—"भाई, लो अपना घर और अपनी औरत। अब आ गए, सम्हालो। हालाँ कि मैं कलेजे पर पत्थर रखकर यह बात कह रहा हूँ!" कहते कहते वह उदास हो गया और फिर दरवाजे की ओर बढ़ा।

"अरे, अरे! इतनी जल्दबाजी बुरी होती है। अगर तुम्हारे

पास नहीं है तो हम उधार भी मान जायँगे। या कहो तो बीस कर दें। पर इससे कम पर तो कहीं गाय-बकरी भी न मिलेगी।"

"कम की बात नहीं। तुमने काफी कम कर दिया, पर मैं अब न मानूँगा, चला ही जाऊँगा। तुम्हारे सामन वह मुझे प्यार न करेगी, यह मैं जानता हूँ।"

तभी बाहर किसी ने कुंडी खटखटाई। कुछ डरकर हरखू ने पूछा—"कौन है?"

"मैं देखता हूँ।" कहकर जयराम दरवाजा खोलकर बाहर आया। बाहर कुछ अँधेरा हो गया था। हरखू खिसककर खिड़की पर खड़ा हो गया। आगन्तुका कोई स्त्री थी। तभी जयराम बाहर निकला।

"कहाँ चले इस समय!" धनिया ने जयराम को मुँह लटकाए जाते देखकर पूछा।

हरखू आवाज पहचान गया। वही वीणा सी चिरपरिचित ध्वनि। कान उसके झनझना उठे।

तभी उसने सुना—"जाओ देखो भीतर कोई मेहमान तुम्हें देखने आया है।" कहकर जयराम अँधेरे में बढ़ गया।

तभी न जाने क्या विचार आया कि हरखू भी बिना धनिया से बात किए खिड़की से बाहर कूदकर उसी ओर अँधेरे में लुप्त हो गया जिधर जयराम गया था। तब तक धनिया भीतर आ चुकी थी। पर उसे कोई दिखलाई न पड़ा। उसे खाट पर केवल एक फटा अंगोछा और एक छोटा सा डंडा मिला।

फिर जयराम कहाँ गया? क्यों गया? किसी को पता न लगा। इसी लिए गाँववालों को और भी आश्चर्य था।

(एक फ्रेंच कहानी के आधार पर)

हमारे अन्य प्रकाशन

स्वर्ग और पृथ्वी

हिन्दी के वे पाठक जो कहानी-कला के पारखी हैं अब धर्मवीर भारती की कहानियों से पर्याप्त परिचित हो चुके हैं। भारती की कहानियों में 'कुतूहल वृत्ति का विधान' बहुत ही अनोखे ढंग का है। इस संग्रह में लेखक की कहानियों के १४ रत्न संकलित हैं। इनमें पृथक् पृथक् रूप-रंग के रत्न मिलेंगे। लेखक जिस प्रकार चलते जीवन का चित्र अंकित करने में पटु है उसी प्रकार अतीत तथा कल्पित लोक का चित्रण भी उसने किया है। भारती की ये कहानियाँ घटनाओं का घटाटोप नहीं हैं, जीवन के चिन्तन की बड़ी ही मार्मिक और रंजनकारी अभिव्यक्ति हैं। ये कहानियाँ पाठकों का अनुरंजन-विनोदन ही न करेंगी उनमें चिन्तन की वृत्ति भी उद्बुद्ध करेंगी। मन की चपलता, चरित्र की दुरूहता, परिस्थितियों की जटिलता का जैसा संभार इस नवोदित कलाकार की इन कहानियों मे मिलेगा वह आधुनिक हिन्दी कहानियों में दुर्लभ है। लेखक की भाषा भो वैसी ही है। जीवन की भाव-भंगिमा के साथ वचन-वक्रता का भी लेखक पारखी है। इन कहानियों में वादमुक्त ऐसे ऐसे नवीन प्रयोग मिलेंगे जिनके कारण हिन्दी कहानियों के नूतन दिक्प्रवाह का पता चलेगा और पता लगेगा कि हिन्दी मौलिक क्षेत्र में कितने उत्कृष्ट रत्न संचित कर रही है। कहानियाँ क्या हैं रस के स्रोत हैं, जीवन-तत्त्व का भांडार हैं, वाग्विदग्धता के कोश हैं। सुन्दर छपी २०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य २।)

पाप-पुण्य

हिन्दी के उदीयमान कहानी-लेखक श्री अनिरुद्ध पांडेय की ग्यारह कहानियों का संग्रह इसमें है। लेखक ने इनमें युद्ध-काल के बीच लहरानेवाली मानस-लहरियों का अंकन बड़े ही नूतन ढंग से किया है। जीवन की अनेकरूपता और विलक्षणता से कहानियों का कलेवर साकार हुआ है। आधुनिक कहानी की सब से बड़ी विशेषता यह समझी जाती है कि कलाकार जीवन का यथार्थ और साथ ही स्वच्छन्द दर्शन करे और पाठक को उसकी झलक दे। अनेक युगों से जीवन भाँति भाँति के विधि-विधानों, विचारों, प्रभावों, प्रेरणाओं, टेवों, व्यवहारों आदि से इतना संकुल-जटिल हो गया है कि उसका निरूपण-चित्रण बहुत कुशल तूलिका ही कर सकती है। रंगों में इतने भेद प्रभेद और छाया-माया का विस्तार हो गया है कि थोड़ा सा भी चूक जाने से कुछ का कुछ रूप बन-बिगड़ सकता है। नए नए कहानी-लेखक ऐसी विकट परिस्थिति में भी कितने उत्तर-दायित्व के साथ अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं इसका पता प्रस्तुत कहानी-संग्रह का पारायण करने से ही चल सकता है। विशेषता यह मिलेगी कि सब प्रकार के, सब श्रेणी के पाठकों का अनुरंजन इन कहानियों के माध्यम से हो सकता है। इस आर्थिक कहे जानेवाले युग में लेखक ने इन कहानियों में मानस-पक्ष पर ही किस प्रकार रमने-रमाने का सफल प्रयास किया है यह ध्यान देने योग्य है। कहानियाँ मनोरंजन का आज बहुत बड़ा साधन हो गई हैं। इन कहानियों में मनोरंजन के साथ ही कला के नूतन दर्शन भी पाठक करेंगे। मनोहर मुद्रित १७२ पृष्ठ की पुस्तक